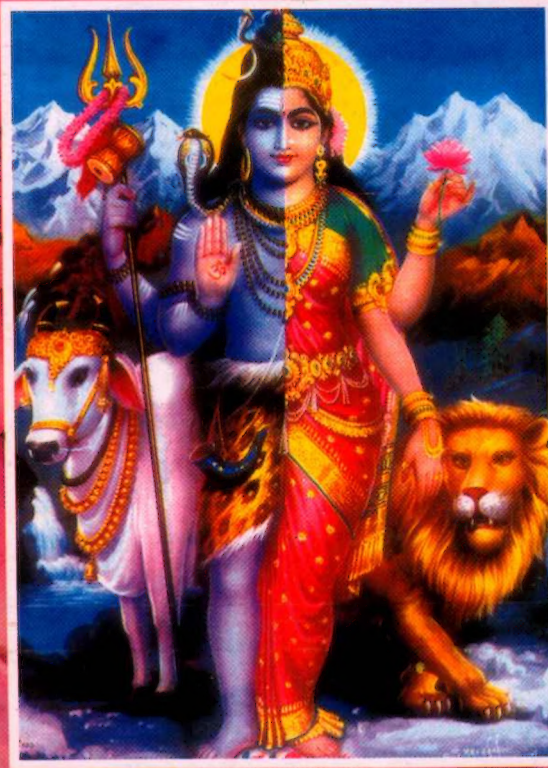




काश्मीर-शैव-दर्शनम्

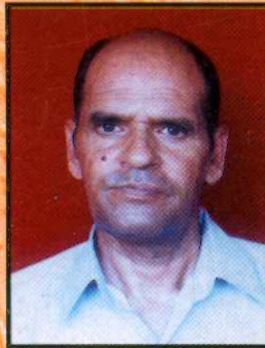
त्रिदिवसीया राष्ट्रीय संगोष्ठी
(सितम्बरम् ११-१३, २०००)

शोध पत्र सारः



संस्कृत विभागः
जम्मू विश्वविद्यालयः, जम्मू-१८०००६
जम्मू कश्मीर राज्यम् (भारतम्)

Editorial Board



Prof. Mahesh Sharma



Dr. Sharda Gupta



Dr. Ramnika Jalali



Dr. Kedar Nath Sharma



Dr. Jagir Singh



Dr. Purshotam Sharma



Dr. Sushma Gupta

Department of Sanskrit

Estd. : 1962

University of Jammu

Jammu-180006 (J&K State)

Ph. : 0191-452917 (O)

0191-453588, 453544, 435248}---Extension : 353/354.

संस्कृते संस्कृतिराश्रिता

काश्मीर-शैव-दर्शनम्

त्रिदिवसीया राष्ट्रिया संगोष्ठी
(सितम्बर 11-13, 2000)

मानवसंसाधनविकासमन्त्रालयस्यार्थिकसहयोगेन
जम्मू विश्वविद्यालयस्य, संस्कृतविभागेन आयोजितायाः

राष्ट्रियसंगोष्ठ्याः

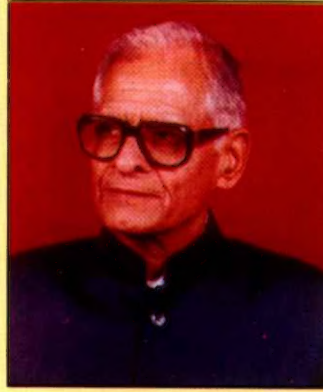
शोध पत्र सार :

संयोजकमण्डलम्:

प्रो० महेश शर्मा
डॉ० शारदा गुप्ता
डॉ० रमणिका जलाली
डॉ० केदारनाथ शर्मा
डॉ० जगीर सिंह
डॉ० पुरुषोत्तम शर्मा
डॉ० सुषमा गुप्ता



संस्कृतविभागः, जम्मूविश्वविद्यालय, जम्मू - 180 006,
जम्मू एवं कश्मीरराज्यम् (भारतम्)



सन्देश

मुझे यह जानकर असीम हर्ष हो रहा है कि संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय द्वारा 11 से 13 सितम्बर, 2000 तक 'कश्मीरी शैव दर्शन' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है जिसमें देश के अनेक शीर्ष विद्वान् सम्मिलित हो रहे हैं।

भगवान् शिव विघ्न विनाशक एवं मंगलकारक के रूप में करोड़ों भारतवासियों के अराध्य हैं। विश्व कल्याण के निमित्त विष का पान करने वाले भगवान् की महिमा का वर्णन एवं आस्वादन अपने आप में मंगलकारी है, ऐसे में शैव दर्शन पर राष्ट्रीय संगोष्ठी में सम्मिलित होने का सौभाग्य किसी तीर्थ के दर्शनों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

विराट हिमालय भगवान् शिव का आवास है। इस नाते हिमालय के अंक में अवस्थित प्रदेश भगवान् शिव के साथ अपेक्षाकृत अधिक सामीप्य अनुभव करते हुए शिव भक्ति की अमृतधारा से रससिक्त है। जम्मू एवं कश्मीर की भूमि का यह सौभाग्य है कि वह भगवान् शिव के महत्त्वपूर्ण तीर्थ अमरनाथ एवं माता वैष्णो के पावन स्थल के रूप में एक साथ शिव एवं शक्ति की विराटता एवं उदात्तता का भव्य रूप प्रस्तुत करती है। जम्मू एवं कश्मीर में शिव उपासना की अपनी एक सशक्त एवं समृद्ध परम्परा है, जिसे अनेक दार्शनिकों, सन्तों एवं शिव भक्तों ने प्रसारित किया है। ऐसे में 'कश्मीरी शैव दर्शन' पर राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन प्रासंगिक ही नहीं, महत्त्वपूर्ण भी है।

मेरा विश्वास है कि इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में विविध विद्वानों के आलेखों के द्वारा 'कश्मीरी शैव दर्शन' का विस्तृत एवं गहन अध्ययन उपस्थित होगा। मैं समझता हूँ कि संगोष्ठी में होने वाले पांडित्यपूर्ण विचार-विमर्श को ग्रन्थाकार में प्रकाशित कर सामान्य जनों का भी ज्ञानवर्धन किया जाना चाहिए ताकि वे भी शिव भक्ति की कश्मीरी परम्परा को जान एवं समझ सकें। मैं इस राष्ट्रीय संगोष्ठी की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

(विष्णुकान्त शास्त्री)

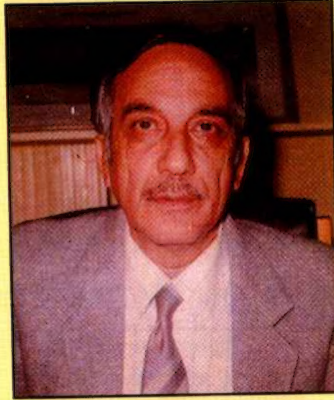


PROF. R. R. SHARMA
Vice-Chancellor



Fax : 0191-450014
Office : 435268
Resi : 462823

University of Jammu
Baba Saheb Ambedkar Road,
JAMMU (TAWI)- 180 004
J & K State

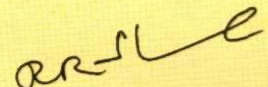


MESSAGE

It is gratifying to know that the Post-graduate Department of Sanskrit, University of Jammu, is holding a 3-day National Seminar on '**Kashmir Shavism**' on **September 11-13, 2000**. The Department has rightly decided to commemorate the '**SANSKRIT YEAR**' by bringing out a **Seminar Journal** which would publish the research papers of the eminent Sanskrit scholars.

I am sure, the efforts of the Department in bringing out a scholarly Journal, will bear fruits and benefit the scholars working in the Department.

I wish the Journal all success.


(R. R. SHARMA)

ईश्वर-आश्रम
गुप्त-गंगा
श्रीनगर (कश्मीर)
१५-८-२०००



सन्देश

अति हर्ष हुआ कि आप 'काश्मीर शैव दर्शन' के विषय में राष्ट्रीय-संगोष्ठी का समारोह रचा रहे हैं। गुरुदेव का आशीर्वाद आप के कार्य को निर्विघ्न संपन्न करें। मेरी भी सद्-भावना आप के शुभ कार्य में सदा सहायक रहेगी।

शुभकांक्षिणी

प्रभा देवी

विषयानुक्रमिका

S.No.		Page No.
1.	Kasmira Saivism: A brief Introduction—Dr. Koshalya Walli	5
2.	जम्मू विश्वविद्यालय का संस्कृत विभाग : एक संक्षिप्त परिचय—प्रो० वेदकुमारी घई	7
	(क) शोध-पत्र सार (ABSTRACT)	
3.	काश्मीर शैव दर्शन की दार्शनिकता—डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	10
4.	काश्मीर शैव दर्शन में शिव का विवेचन— डॉ० राम प्रताप	11
5.	Concept of Maya in the Advaita vadants of Sankara and Advaita Saiva Philosophy of Kashmir - Prof. D.B.Sen Sharma	12
6.	Kasmira Saivism and Saiva Siddhanta - Prof. Satya Deva Misra	13
7.	आचार्य अभिनवगुप्त प्रणीत स्तोत्रों में रससाधना का दर्शन—प्रो० रमाकान्त अङ्गिरस	14
8.	शिवाद्वयावाद दिक्षानाद्वयवादयोः साधर्यवैधर्म्ये - प्रो० आर० एस० द्विवेदी	15
9.	प्रत्यभिज्ञादर्शन सृष्टितत्त्व का विमर्श - प्रो० गङ्गाधर पाण्डा	16
10.	Contribution of Saivism to the Uttaramimansa —Dr. Shailaja Bapat	16
11.	लल्लद्यद के 'वाखों' पर कश्मीर शैव दर्शन का प्रभाव -डॉ० बी०एन०कल्ला	17
12.	काश्मीर शैव दर्शन के प्रमुख तत्व - डॉ० अनिल कैलास चन्द्र शास्त्री	18
13.	कश्मीर के लोगों पर शैव दर्शन का प्रभाव - डॉ० सत्यभामा राजदान	19
14.	Saivism in Kashmir — Dr. R.S.Hiramath	20
15.	Kashmira Shaivism in Historical out-line — Dr. Ram Nandan Singh	21
16.	Kashmir Shaivism is a Perfect Philosophy — Dr. S.P.Shrivatsa	22
17.	काश्मीर शैव-दर्शन में सौन्दर्य-चेतना की मूल अवधारणाएं - डॉ० आशुतोष आंगिरस	23
18.	काश्मीर शैवदर्शन और वाक् - डॉ० कर्तार चन्द शर्मा	24
19.	कश्मीर शैव दर्शन में परम तत्त्व -श्रद्धा सिंह	25
20.	काश्मीरी द्वैतशैव सिद्धान्तस्य आचार्याः - डॉ० रामपूजन पाण्डेय	26
21.	त्रिक दर्शन में स्पन्द का महत्व - डॉ० स्नेह लता शर्मा	27
22.	परम माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त—श्री दुष्यन्त शर्मा	28
23.	शांकर अद्वैतवाद के साथ प्रत्यभिज्ञादर्शन की तुलना - श्री इन्द्र प्रकाश रैणा	29
24.	सम्बन्धसिद्धौ - आचार्योत्पलप्रतिपादितं सम्बन्धस्वरूपम्—डॉ० सुरेन्द्र मोहन मिश्र	30
25.	बन्ध एवं मल- श्री करतार चन्द शर्मा	31

26.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के आधार पर क्षेमराज का काश्मीर शैव दर्शन को योगदान- श्री कमल किशोर	32
27.	काश्मीर शैव दर्शन : एक दृष्टिकोण - धर्मेन्द्र शर्मा	33
28.	काश्मीर शैव दर्शन में अनुग्रह स्वरूप - अनिल कुमार पाठक	35
29.	काश्मीर शैव दर्शन का उद्भव एवं विकास - वीना चाड़क	36
30.	परमार्थसार में संकलित सामग्री का सार - मञ्जू शर्मा	37
31.	काश्मीर शैवदर्शन में बन्धन- मञ्जू शर्मा	38
32.	क्षेमराज का स्पन्द दर्शन में योगदान - डॉ० रेणु गुप्ता	39

(ख) शोध-पत्र (RESEARCH PAPERS)

33.	काश्मीर शैव दर्शन तथा सूफी दर्शन - प्रो० वेद कुमारी घई	40
34.	Śaktipata (Descent of Divine Grace)—Prof. Man Singh	44
35.	Śiva Sūtra and Mental Environment — Prof. Koshalya Walli	48
36.	Śiva Sūtra—Dr. B.N. Pandit	53
37.	चिर्ति शक्ति - प्रो० महेश शर्मा	56
38.	शिवसूत्रों के साक्षात्कर्ता वसुगुप्त की सिद्धान्तचन्द्रिकाकार वसुगुप्त से भिन्नता- डॉ० शारदा गुप्ता	61
39.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में चिति का स्वरूप - डॉ० रमणिका जलाली	65
40.	षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह के सन्दर्भ में काश्मीर शैव दर्शन के तत्व	67
41.	काश्मीर अद्वैत शैव और अद्वैत वेदान्त - डॉ० जगीर सिंह	75
42.	काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन के तत्व - डॉ० पुरुषोत्तम शर्मा	83
43.	अनुत्तर प्रकाश पञ्चाशिका का दार्शनिक पक्ष - डॉ० सुषमा गुप्ता	90
44.	शाङ्कर वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन में कर्तव्य - डॉ० बीना अग्रवाल	92
45.	काश्मीर शैव दर्शन भर्तृहरिदर्शनयोः स्वातन्त्र्यविचारः - डॉ० कामदेव झा	99
46.	तन्त्र रहस्य का महत्व- सुश्री प्रभा देवी	102
47.	काश्मीर-शैवदर्शन मीमांसायां शिवतत्त्वनिरूपणम्- डॉ० नरेश कुमार शास्त्री	105
48.	काश्मीर शैवदर्शन में 'षडध्व' धारणा - श्री ओम कुमार शर्मा	107
49.	काश्मीर शैव दर्शन: यथार्थवादी प्रत्ययवाद: एक व्याख्या:- डॉ० उमा पाण्डेय	110
50.	वेदों में 'रुद्र-शिव' देवता एक दृष्टि - डॉ० कृष्णा पाल सिंह	112
51.	काश्मीर शैव दर्शन पर एक विहङ्गम दृष्टि - डॉ० पूर्णानन्द पूर्ण पन्थी	114
52.	प्रत्यभिज्ञा दर्शन में अज्ञान-डॉ० राजेन्द्र कुमार शर्मा	116
53.	काश्मीर शैवदर्शन में जाग्रत स्वप्नादि पाँच अवस्थाओं का स्वरूप - डॉ० संध्या	116

Kāśmīra Śaivism

A brief introduction

Dr. Koshalya Walli, Jammu

Man does not live by bread alone. He requires mental food. Intellectual development coerces him to think sometimes about the questions-What after this life? Every one knows that death is definite in the case of every human being, may be of any category-rich, poor, literate, illiterate, agnostic, theist, spiritualist, staunch atheist, and the like. Who am I? Wherefrom have I come, where am I to go? What next? All these questions lurking in human mind have given birth to different schools of thought from time to time. Kashmir Śaivism happens to be one such branch of the tree of human thought.

The word Śiva is one of the oldest in the human history. "Tan me manah 'Śiva Sani-kalpaṁastu" i.e. "may my mind be occupied with good and positive thoughts and ideas". 'Śiva stands for welfare and auspiciousness. Remembrance of cosmic Energy in the form of 'Śiva has been in vogue from times immemorial.

In 800 A.D., Ācārya Vasugupta - a staunch devotee of Lord Śiva. Advised by the Lord, he found the sutras written on a big stone outside his cottage in Harvan at Srinagar. He transmitted the contents of the sutras to his disciple Siddha Kallata Bhatta and advised him to further transmit it to those who deserved to be the recipients of the same. Thus, gradually the sutras came to us in the written form. It is said that the Supreme Lord not putting up any more with the suffering of the people, disclosed the said sutras amongst the populace through Vasugupta.

Man is ultimately consciousness/Awareness. He has svātantrya-freedom. He

is absolutely free. But, he is veiled by Māyā. His senses of action and knowledge, mind, intellect and imperfect ego make him forget his real self and he feels himself a bound man. As Rousseau has put it- "man was born free but found himself in chains." Vasugupta presents three methods to tear asunder the veil of ignorance, to be self once again.

Śambhavopaya is an experience of complete cessation of thought. Awareness with absolute freedom of all knowledge and activity is the Self- "चैतन्यम् आत्मा" (Ś.S.1.1) This upāya-method-teaches us that limited knowledge is the cause of bondage. "ज्ञानं बन्धः" (Ś.S.1.2) According to 'Śaktopaya the utmost awareness makes one to identify oneself with the supreme residing in the Mantra. Undoubtedly the mind itself becomes mantra "चित्तं मन्त्रः" (S.S.2.1) Ānavopāya deals with empirical self called "अणु" (Anu). According to this Upāya, mind comprises buddhi, aham and manas, intellect, little ego and thought-construct. Such a mind is the individual self- "आत्मा चित्तम्" (Ś.S.3.1). The knowledge of the empirical self is the source of bondage- ज्ञानं बन्धः- S.S.3.2

Apart from these three means, one more approach is called Anupāya. Anupāya is no means. In accordance with this method one's life can be transformed in toto by listening to a word from a great soul, by reading a sentence from a good book, by the touch of a self-realized soul etc.

Vasugupta's disciple Bhatta Kallata was a Siddha-a man of perfection who disseminated the knowledge of the 'Śiva-Sūtram. The text, Spanda-Kārikā whether

written by Kallata or by his teacher Vasugupta? Opinions differs Ksemaraja attributes the authorship of Spandakarika to Vasugupta, whereas others maintain that it has been written by Kallata having learnt the same at the feet of his master, Vasugupta.

The word "Mala"- मल - is used in Kashmir 'Saivism in the context of ignorance and not the commonplace meaning - "dirt". Malas are of three types-Āṇava Mala (आणव मल), Kārma Mala (कर्म मल), मायीय मल-Māyīya Mala. Innate ignorance of the Jiva is known as Āṇava Mala. Karma Mala due to vāsanās or impressions left behind on the mind by karma or motivated action. Māyīya Mala is the limitation due to Māyā which gives to the soul its gross and subtle body and brings about a sense of difference.

The unconditional grace of God is known as 'Śaktipāta in Kashmir Śaivism.

Somanada wrote Śīva-Drsti in the 9th century. This work is of great importance from the philosophical point of view. His disciple Utpaladeva composed Iśwārpratyabhijñā - a very important work to the extent that the whole philosophy of Kashmir Śaivism is known mostly as PRATYABHIJÑĀ DARSANAM. Acarya Abhinavagupta wrote commentaries called pratyabhijñā- vimarsini and Pratyabhijñāvivṛti vimarsini respectively. Acarya Abhinavagupta produced Tantraloka in twelve volumes as also the sum and substance of this great epitome known as 'Tantrasara'. The said gigantic work details out the philosophical as also the practical aspect of Kashmir Śaivism. Besides, Abhinavagupta wrote numerous books on this system of thought. Besides he had command on Dramaturgy, was expert in the theory of Rasa.

The said original writers of Kashmir 'Śaivism were scholars of versatile nature.

They wrote about the tenets of Kashmir 'Śaivism only after having experienced the same in the laboratory of their Inner self i.e. after the attainment of the self-Realization. Besides these original scholars, commentators, translators, interpreters have contributed tremendously in their own way to the field of Kashmir 'Śaivism.

The ULTIMATE REALITY is cit-consciousness. CONSCIOUSNESS or cit is Prakāśa-Light. The Light-Prakāśa is Vimarsamaya - i.e. Vimarsa is the awareness of that Eternal Light. As goes the saying :- 'One who knows but knows not that he knows ; he is asleep, awaken him. " Kashmir 'Śaivism- its study aims at the awakening of the beings. 'Vimarśa'- This word has various other names also like Parā Śakti, svātantrya, aisvarya, Kartṛtva, sphurattā, spand, Hrdaya.

The cosmic energy is not only transcendental but immanent also i.e. not only viśvateerna but viśvamaya also. Manifestation of the Highest Reality in infinite variety is "A must"; or else to quote Abhinavagupta, The Supreme Spiritual Energy would be like a jar- insentient and ineffective.

अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।

महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत् ॥

T.L. III. 100

According to Abhinavagupta-"मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि तत् " i.e. Liberation is nothing but the expansion of one's self or awareness of one's true nature.

To be precise, Kashmir 'Śaivism is very practical. Its doors are open to all, irrespective of caste, creed, colour, sex or country.

As The Supreme Energy is Real, the creation of that Energy - i.e. this world-also is real.

☆☆☆

1963
आगे
विश्व
में वि
डॉ०
बाद
डॉ०
डॉ०
विप
भाषा
लिए
इस
उन
रमण
जगी
सुप
सुच
प्राप्त
के
जम्
संस्
गुप्त
रहा
काय
हैं।
संग्र
विभ
के
तथा

जम्मू विश्वविद्यालय का संस्कृत विभाग एक संक्षिप्त परिचय

प्रो० वेद कुमारी घई

जम्मू कश्मीर विश्वविद्यालय के अन्तर्गत सन् 1963 में जम्मू में संस्कृत विभाग को खोला गया था। आगे चल कर यह जम्मू कश्मीर विश्वविद्यालय कश्मीर विश्वविद्यालय तथा जम्मू विश्वविद्यालय इन दो भागों में विभक्त हुआ। प्रारम्भ में इस विभाग में दो अध्यापक डॉ० वेदकुमारी घई तथा डॉ० शम्भुनाथ शर्मा थे। उसके बाद एक दशक तक चार अध्यापक रहे। विभागाध्यक्षा डॉ० घई के सहयोगी अध्यापक थे डॉ० कौशलया वल्ली, डॉ० रामप्रताप तथा डॉ० शम्भुनाथ शर्मा। बाद में साहित्य विषय के अतिरिक्त शैवदर्शन, आभिलेखिकी तथा भाषाविज्ञान के क्षेत्रों में विशेष अध्ययन की व्यवस्था के लिए अध्यापकों की संख्या में वृद्धि होती गई। आजकल इस विभाग में डॉ० महेश शर्मा प्रो० तथा अध्यक्ष हैं तथा उन के सहयोगी हैं तीन प्रवाचक-डॉ० शारदा, डॉ० रमणीका तथा डॉ० केदारनाथ, दो वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० जगीर सिंह तथा डॉ० पुरुषोत्तम एवं एक प्रवक्ता डॉ० सुपमा। ये सभी अध्यापक निष्ठापूर्वक विभाग का कार्य सुचारु रूप से चला रहे हैं। इस संस्कृत विभाग से शिक्षा प्राप्त कर चुके सैंकड़ों छात्र छात्राएं जम्मू कश्मीर राज्य के शिक्षा संस्थानों में सफलता पूर्वक कार्य कर रहे हैं। जम्मू विश्वविद्यालय के डोगरी विभाग के निर्माण में संस्कृत विभाग की छात्राओं प्रो० चम्पा शर्मा, डॉ० वीणा गुप्ता तथा डॉ० अर्चना केसर का उल्लेखनीय योगदान रहा है। कश्मीर विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग का कार्य यहीं की छात्रा डॉ० सत्यभामा राजदान देख रही हैं। शिक्षण क्षेत्र के अतिरिक्त डाकतार विभाग, बैंक, संग्रहालय, तथा व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में भी संस्कृत विभाग के विद्यार्थी अपनी सेवायें समर्पित करते हुए राष्ट्र के उत्थान में संलग्न हैं।

अनुसन्धान के क्षेत्र में संस्कृत विभाग के प्राध्यापक तथा विद्यार्थी अनवरत संलग्न हैं। वर्ष 1985 में

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का दल प्रो० विद्यानिवास मिश्र के नेतृत्व में जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के निरीक्षणार्थ आया था। उस की विज्ञप्ति इस प्रकार है "संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय उत्तरभारत के प्रसिद्ध संस्कृत शिक्षा संस्थानों में से एक प्रख्यात शिक्षा केन्द्र है।" इस उक्ति की सार्थकता इस बात से प्रमाणित होती है कि इस विभाग में अब तक पचास पी० एच० डी० शोध प्रबन्ध, नब्बे एम० फिल शोध निबन्ध शोध कर्त्ताओं द्वारा प्रस्तुत किये जाकर उपाधियों के लिए स्वीकृत हुए हैं। इन में वेद, साहित्य, दर्शन, विशेषतः काश्मीर शैवदर्शन, भाषाविज्ञान आभिलेखिकी धर्मशास्त्र, आयुर्वेद आदि विषय सम्मिलित हैं। शोध छात्रों के कुछ प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं, जैसे डॉ० गंगादत्त विनोद : रघुनाथ गुणोदय-एक अध्ययन, डॉ० कुसुम गुप्ता : विष्णुधर्मोत्तर पुराण का सामाजिक एवं धार्मिक अध्ययन, (अंग्रेजी में) डॉ० बचनो गुप्ता : महाकवि मंख-कृतित्व एवं व्यक्तित्व, डॉ० अनीता सूदन : राजपूताना के चाहमान वंश के अभिलेखों का अध्ययन (अंग्रेजी) डॉ० योगेन्द्र कुमार: त्रैतवाद उद्भव और विकास।

संस्कृत विभाग के अध्यापक भी अनेक क्षेत्रों में शोधकार्य करते रहे हैं। उनके शोधपरक प्रकाशित ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है-

1. प्रो० वेदकुमारी घई-

1. नीलमत पुराण एक सांस्कृतिक एवं साहित्यिक अध्ययन मूल पाठ एवं अनुवाद (दो भाग) अंग्रेजी
2. कश्मीर का संस्कृत साहित्य को योगदान।
3. फोनेटिक्स एण्ड फोनोलाजी (डोगरी के विशेष सन्दर्भ में) अंग्रेजी में
4. कश्मीर दर्पण (डोगरी)
5. भल्लटशतक (हिन्दी अंग्रेजी)
6. राजेन्द्र कर्णपूर

2. स्वर्गीय प्रो० शम्भुनाथ शर्मा
 1. वैदिक साहित्य का इतिहास (अंग्रेजी)
 2. भारतीविद्या के महत्त्वपूर्ण पक्ष (अंग्रेजी)
 3. पाठालोचन।
3. प्रो० कौशल्या वल्ली
 1. संस्कृत साहित्य में अहिंसा की अवधारणा (अंग्रेजी)
 2. संस्कृत साहित्य में कर्म की अवधारणा (अंग्रेजी)
 3. जम्मू कश्मीर का हिन्दी साहित्य
 4. काश्मीर शैवदर्शन (अंग्रेजी)
4. प्रो० रामप्रताप
 1. पुराणानां काव्यरूपतायाः विवेचनम्
 2. साहित्यसुधासिन्धुः
5. प्रो० महेश शर्मा

मुद्राराक्षस : एक अध्ययन।
कालिदास के नाटकों का अध्ययन
6. डॉ० शारदा गुप्ता-

शोध लेख माला।
शिवसूत्र एवं शिवसूत्र विवर्ण
शिवसूत्र एवं ऋग्वर्थ बोधिनी
7. डॉ० रमणीका जलाली-

स्मृतियों में नारी (English)
भारतीय नारी का संवैधानिक स्थान (English)
(Press)
8. डॉ० केदारनाथ
 1. रसाभास एवं भावाभास
 2. संस्कृत में रूपस्वनिमित्तक विश्लेषण
 3. दीनाक्रन्दनस्तोत्र (प्रेस)
9. डॉ० जगीर सिंह

(i) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा और सांख्यकारिका के परिप्रेक्ष्य में
प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त तथा सांख्य दर्शन—एक पर्यालोचन
(ii) प्रत्यभिज्ञाहृदयम् और वेदान्तसार के सन्दर्भ में
काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन और अद्वैत वेदान्त

दर्शन—एक पर्यावेक्षण

(iii) काश्मीर अद्वैत शैव भक्ति तथा उत्पलदेव

10. डॉ० पुरुषोत्तम शर्मा

1. ईशावास्योपनिषद्
2. भारतीय ज्योतिष प्रवेश
3. लघुसिद्धान्त कौमुदी

(संज्ञा-सन्धि कारकादि)

सन् 1964 में संस्कृत विभाग में संस्कृत परिषद् की स्थापना की गई थी। तब से लेकर अब तक इस संस्कृत परिषद् के तत्त्वावधान में संस्कृत विभाग के अध्यापक तथा छात्रगण प्रतिवर्ष सत्रारम्भ, सत्रसमापन, कालिदास जयन्ती तथा संस्कृत दिवस (1976 से इसका प्रारम्भ हुआ) - ये चार समारोह मनाते रहे हैं। इन अवसरों पर संस्कृत श्लोक पाठप्रतियोगिता, संस्कृत भाषण-प्रतियोगिता, समूहगान प्रतियोगिता, ज्ञानविस्तार भाषण एवं सङ्गोष्ठियों का आयोजन तथा संस्कृत नाटक, भावनृत्यादि का मंचन किया जाता रहा है। इन गतिविधियों से जम्मू नगर में संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार में सहायता मिलती रही है, क्योंकि विभिन्न विद्यालयों महाविद्यालयों तथा श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के विद्यार्थी प्रतियोगिताओं में भाग ले कर प्रोत्साहित होते रहे हैं। संस्कृत विभाग के छात्र भी उज्जैन होशियारपुर खन्ना आदि नगरों में विभिन्न संस्थाओं द्वारा आयोजित प्रतियोगिताओं में भाग लेते रहे हैं।

संस्कृत विभाग के इन कार्यक्रमों की अध्यक्षता करने के लिए जम्मू कश्मीर राज्य के राज्यपाल तथा जम्मूविश्वविद्यालय के कुलाधिपति महामहिम डॉ० कर्णसिंह, महामहिम श्री भगवान् सहाय, महामहिम श्री लक्ष्मीकान्त झा, महामहिम श्री बी० के० नेहरू, महामहिम श्री जगमोहन पधारे हैं। इसी प्रकार जम्मू विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० अडवानी, प्रो० जानकीनाथ भान, श्री जे० डी० शर्मा, प्रो० श्यामाचरण दुबे, प्रो० सत्यभूषण, प्रो० मनसाराय पुरी, प्रो० मुकुन्दलाल लखनपाल, प्रो० वाई० आर० मल्होत्रा तथा वर्तमान कुलपति प्रो० आर आर शर्मा ने इन समारोहों का उद्घाटन सभापतित्व तथा विशिष्ट अतिथिपद ग्रहण कर के शोभा बढ़ाई है। डॉ०

लदेव

(कादि)

परिषद्

क इस

भाग के

समापन,

इसका

अवसरों

भाषण-

भाषण

नाटक,

विधियों

सहायता

विद्यालयों

विद्यार्थी

रहे हैं।

र खन्ना

योजित

मध्यक्षता

ल तथा

म डॉ०

हिम श्री

हामहिम

विद्यालय

मान, श्री

न्यभूषण,

ल, प्रो०

आर आर

त्व तथा

है। डॉ०

वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रो० फिन थीसन (डेनमार्क) प्रो० मोर्गेन राथ (जर्मनी) प्रो० इकारी (जापान) प्रो० गोपिका मोहन भट्टाचार्य, प्रो० रामकरण शर्मा, प्रो० विश्वनाथ भट्टाचार्य, प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रो० राममूर्ति शर्मा, प्रो० सत्यव्रत शास्त्री, प्रो० रामचन्द्र द्विवेदी, प्रो० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, प्रो० गौरीनाथ शास्त्री प्रो० विद्यानिवासमिश्र, प्रो० वेङ्कटाचलम्, प्रो० पी० एन कोठेकर, प्रो० ब्रजबिहारी चौबे आदि विद्वानों ने इन समारोहों में पधार कर जम्मू के विद्वानों और जनता को अपने विचारों से लाभान्वित किया है।

सन् 1977 में प्रो० जगन्नाथ अग्रवाल के सभापतित्व में जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के एम०ए० आदि परीक्षोत्तीर्ण प्राक्तन छात्रों की सभा तौपीधारा की स्थापना की गई। सन् 1987 में डॉ० रमाकान्त आङ्गिरस की अध्यक्षता में संस्कृत विभाग के शोधविद्यार्थियों की शोध संस्था संस्कृत शोध परिषद् का गठन किया गया। इन दोनों संस्थाओं का उद्देश्य संस्कृत विभाग की गतिविधियों में सहयोग करना है।

संस्कृत विभाग की संस्कृत परिषद् की ओर से विगत 37 वर्षों में खेले गये संस्कृत नाटकों की तालिका इस प्रकार है :- अभिज्ञानशाकुन्तल (वर्ष 1964, 65, 68, 69, 71, 74, 75, 76, 85, 88), मालविकाग्निमित्र (वर्ष 1970, 72, 73) विक्रमोर्वशीय (वर्ष 1977) ऋतुसंहार (1984) और कुमारसम्भव (1977) पर आधारित नृत्य नाटिकायें, मृच्छकटिक (1984), रत्नावली (1974), भवभूतिकृत उत्तररामचरित (1977) भवावदज्जुकीय (1981, 84, 85) श्रीमती रीताजितेन्द्रकृत इन्द्रधनुष (1985) तथा स्त्रीशक्ति (1987), डॉ० केदारनाथ कृत किमर्थं तलाकः (1986). रेडियो कश्मीर जम्मू से संस्कृत विभाग के छात्रों तथा अध्यापकों के सहयोग से प्रो० वेदकुमारी घई लिखित संस्कृत रूपकों सुगन्धा (1988)

मदालसा चरित (1989), अपूर्व : प्रतिशोध:

मेनकावात्सल्यम् तथा द्राक्षामतः

शकुन्तला का प्रसारण हुआ।

संस्कृत विभाग के तत्त्वावधान में अब तक

अखिल भारतीय स्तर की सात सङ्गोष्ठियां सम्पन्न हुई हैं- स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत नाटकों में आधुनिक प्रवृत्तियां (1980), काश्मीर शैवदर्शन (1985), महामहोपाध्याय कविराज गोपीनाथ व्यक्तित्व एवं कृतित्व (1986), राष्ट्रीय एकता को संस्कृत का योगदान (1988), प्राचीन भारतीय परम्परा में संघर्षों का समाधान (1993), भारतीय भाषाओं में उपलब्ध संस्कृत शब्दावली (1994), आधुनिकयुग में वेदों की प्रासङ्गिकता (1996) काश्मीर शैवदर्शन पर आठवीं अखिल भारतीय सङ्गोष्ठी 11 सितम्बर से 13 सितम्बर 2000 में सम्पन्न हो रही है, जबकि राज्य स्तरीय संस्कृत विषयक विविध प्रतियोगिताओं का सफल आयोजन 30-31 अगस्त, 2000 को सम्पन्न किया गया है। इसमें प्रो० वेद घई, प्रो० कौशल्यावल्ली, प्रो० राम प्रताप को सम्मानित भी किया गया और विश्वविद्यालय के विविध पदाधिकारियों प्रो० जहूर-उद्-दीन, प्रो० ओ०पी० शर्मा, श्री पी०एस० साही, डॉ० जरनैल सिंह आदि ने अपने भाषणों एवं पुरस्कारादि से छात्र-छात्राओं को प्रोत्साहित किया। द्विदिवसीय इस संस्कृत वर्ष एवं दिवस के उपलक्ष्य में कालेज के छात्र-छात्राओं एवं 35 से अधिक स्कूलों के विद्यार्थियों ने-श्लोकोच्चारण प्रतियोगिता, संस्कृत समूहगान प्रतियोगिता एवं संस्कृत वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में अपनी प्रतिभाओं का कुशल प्रदर्शन किया।

संस्कृत विभाग के लिए यह भी गौरव का विषय है कि इस विभाग की प्रो० वेदकुमारी घई एवं प्रो० कौशल्या वल्ली संस्कृत में वैदूष्य के लिए वर्ष 1997 एवं वर्ष 1998 में महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित की जा चुकी हैं।

भारत की प्राचीन सांस्कृतिक सम्पदा संस्कृत भाषा और साहित्य में निहित है। अतः संस्कृत के विद्यार्थियों और अध्यापकों पर इसकी रक्षा का विशेष उत्तरदायित्व है। हमें आशा और विश्वास है कि जम्मू विश्वविद्यालय का संस्कृत विभाग अपने वर्तमान अध्यक्ष प्रो० महेश शर्मा और उनके सहयोगियों के सतत् उद्योग से इस उत्तरदायित्व को निभाने में सक्षम होगा। जयतु संस्कृतम्।



शोध-पत्र सार (ABSTRACT)

काश्मीर शैव दर्शन की दार्शनिकता

डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास *

आगम तन्त्र को प्रमाण मानकर मुख्यरूप से आठवीं से बारहवीं शती तक काश्मीर के शैवाचार्यों के साहित्यिक योगदान से विकसित होने वाला काश्मीर शैव दर्शन भारतीय दर्शन के इतिहास का सर्वाधिक उपेक्षित दर्शन रहा है। दर्शन के इतिहासकारों ने इस अद्वयवादी दर्शन सहित द्वैतवाद आदि अन्यान्य तान्त्रिक दर्शन-सम्प्रदायों की भी घोर उपेक्षा की है। अतः इस उपेक्षा के कारणों का अनुसन्धान और विश्लेषण आवश्यक है। इस क्रम में दो महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं।

क्या इस दर्शन में, दर्शन की भारतीय परिभाषा के अनुसार दर्शन कहलाने की सामर्थ्य है या नहीं? 2. इतिहासकारों द्वारा इस दर्शन की उपेक्षा का कारण क्या इसमें दार्शनिकता का अभाव है अथवा इस दर्शन से उनका अपरिचय है अथवा कोई पूर्वाग्रह है? इस सन्दर्भ में एक अन्य प्रश्न यह भी है कि यदि यह स्वतंत्र दर्शन है तो इस दर्शन सम्प्रदाय का अन्य भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों से क्या वैलक्षण्य और वैशिष्ट्य है।ऐसे सभी प्रश्नों और उत्तरों का विवेचन प्रस्तुत शोध लेख में अभीष्ट है।



काश्मीर शैवदर्शन में शिव का विवेचन

डॉ० रामप्रताप *

अत्यन्त प्राचीन काल से काश्मीर से कन्या कुमारी और अटक से कटक तक सम्पूर्ण भारत में शैवदर्शन पर आधारित शैव धर्म का प्रचार होता रहा है। इसका अस्तित्व ताम्र पाषाणयुग में था। यह तथ्य पुरातत्त्व की सामग्री से उजागर होता है। काश्मीर प्रदेश में प्रचलित शैव दर्शन को माहेश्वर दर्शन नाम भी दिया जाता है। जैसे बरगद का बड़ा वृक्ष अपने बीज में शक्ति रूप में विद्यमान रहता है उसी प्रकार यह चराचर विश्व शक्ति रूप में महेश्वर के हृदय में विद्यमान रहता है।

शिव तत्त्व - शैव दर्शन में शिव तत्त्व को ही प्रधान माना जाता है। आत्म तत्त्व को शिव बताया गया है यह प्रत्येक जीव में रहता है। यह चैतन्य स्वरूप है। इसका अपना रूप स्त्री, पुरुष या नपुंसक में नहीं होता बल्कि यह जैसे-जैसे शरीर में प्रवेश करता है वैसा वैसा रूप ग्रहण कर लेता है। यह शरीर में रहते हुए भी उससे भिन्न है क्योंकि इसके बाहर निकल जाने पर शरीर का अस्तित्व भी नहीं रह पाता। सभी जड़ और चेतन पदार्थों में इसकी संज्ञा रहती है। इसलिए यह सर्वव्यापक है। विभिन्न वस्तुओं में रहते हुए भी यह एक है। यह नित्य और अनन्त है। समस्त विश्व इसी परमतत्त्व का अभिन्न रूप है। व्यापक रहते हुए भी यह परम शिव जगत् से भिन्न है। शिव में विमर्श नामक शक्ति रहती है। जैसे प्राण रूपी शक्ति के बिना शरीर शव बन जाता है वैसे ही शक्ति के बिना शिव भी जड़ हो जायेंगे। शक्ति और शक्तिमान् शिव की नित्य स्थिति है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इस विमर्श शक्ति के भेद हैं। इन पाँच प्रकार की शक्तियों से समन्वित शिव समस्त जगत् की अभिव्यक्ति करते हैं। यद्यपि शिव और शक्ति दोनों एक

दूसरे से भिन्न हैं किन्तु इनमें तादात्म्य एवं सामरस्य है। जब इस शक्ति का उन्मेष होता है तो सृष्टि पैदा होती है जब निमीलन होता है तो इसका लय हो जाता है। त्रिक अर्थात् तीन तत्त्वों में नर शक्ति और शिव की गणना की जाती है। नर के अन्तर्गत जीवात्मा है। इनसे जुड़ा हुआ जगत् प्रपञ्च भी इसके अन्तर्गत है। चित् तत्त्व शक्ति है। अपनी शक्ति को अभिव्यक्त करने के उत्साह से शिव जीव दशा में अवतरित होता है।

अद्वैत वेदान्त में परब्रह्म को केवल शुद्ध ज्ञान-स्वरूप ही माना गया है उसे निष्क्रिय और अस्पन्द कहा गया है। परन्तु शैव दर्शन में परम शिव को ज्ञान रूप और क्रिया रूप उभयविध माना गया है। दोनों ही रूपों का परिपूर्ण सामरस्य परम शिव है। जो कुछ भी इस संसार में दीखता है वह भी वही है। जैसे मिट्टी के घड़े और सकोरे जैसे बरतन मिट्टी ही हैं वैसे ही सृष्टि के स्थूल पदार्थ तथा सारा प्रपञ्च परमशिव है। वेदान्त का ब्रह्म स्वयं निष्क्रिय है वह माया की सहायता से ही जगत् का निर्माण करता है किन्तु शैव मत के अनुसार शिव के भीतर ही शक्ति तत्त्व है, जिसके कारण वह सृष्टि को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखता है वेदान्त में वर्णित जगत् मिथ्या है किन्तु शैवदर्शन में जगत् को सत्य माना गया है। शिव और शक्ति का सामरस्य रूप अद्वय परमेश्वर इस जगत् के समस्त पदार्थों में अनुस्यूत है। बिना आधार और सामग्री के यह कलानाथ शङ्कर जगत् रूपी चित्र को बना देता है। नटराज शिव अपनी इच्छा मात्र से विभिन्न प्रकार की भूमिका स्वीकार करता है। वह स्वतन्त्र कर्ता है और सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और विलय इन पञ्चकृत्यों का सम्पादक है।

* पूर्व प्रोफेसर जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

इसका जगत् के साथ दर्पणबिम्बवत् सम्बन्ध है। निर्मल दर्पण में जब ग्राम, नगर, वृक्षादि पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो वे दर्पण से भिन्न होते हैं और एक दूसरे से भी भिन्न होते हैं। ठीक उसी तरह विश्व के घटपटादि पदार्थ पूर्ण संविद् रूप परमेश्वर में प्रतिबिम्बित होते हैं। वे उससे अभिन्न होने पर भी वे भिन्न होते हैं और आपस में भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। यह जगत् शिव की चिन्मयी शक्ति का स्फुरण है और मिथ्या न होकर सत्य है शिव में चेतनता का ज्ञान शक्ति के कारण

होता है शक्ति के बिना शिव शव (मृतक) है।

वस्तुतः परमसत्ता रूप शिव एक ही तत्त्व है विद्वानों में नामों को लेकर ही विवाद है तत्त्व के सम्बन्ध में किसी तरह का झगड़ा नहीं है जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है- संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः। ऋग्वेद में भी एकं सद्ब्रह्मः बहुधा वदन्ति-एक सत् परमेश्वर को विद्वान् बहुत रूपों में बताते हैं। ऐसा कहकर इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।



Concept of Maya in the Advaita Vedants of Sankara and Advaita Saiva Philosophy of Kashmir

D. B. Sen Sharma

Maya has been admitted both by Sāṅkara Vedāntins and Advaita Saivites of Kashmir to explain the manifestation of the World of multiplicity. Both schools admit the Maya to be the *acitśakti* which is instrumental in the manifestation of the world by veiling the nature of ultimate reality. But these schools differ widely in their conception of her nature. While the Sankara Vedāntins look upon the *Māyā* Sakti as phenomenally real but unreal from the transcendental point of

view, the Advaita Saivites of Kashmir consider the Maya Sakti to be real. It is only a mode of operation of the Divine Freedom of the Supreme Lord on a lower level which is responsible for concealing the true nature of the supreme Lord on one hand and paving way on the other for his self manifestation as the multiplicity of subjects, objects etc. in creation. There are many points of divergence in the true conception of Maya held by these schools on which light has been thrown in this paper. कलकत्ता (बंगाल)



* Ex. Dean, Head, Skt. Deptt., K.U. Kurukshetra.

Kashmira Saivism and Saiva Siddhanta

Prof. Satya Deva Misra*

The Saiva religion is one of the most ancient religions of the world. Such has been the vitality of this religion that it has given rise to numerous cults differing from each other in matters of details but agreeing in fundamental belief regarding God (Pati), Soul(jiva) and bond (pasa) and the thirty-six tattvas. In its philosophical views, we find all shades of differences ranging from the idealistic monism of the Kasamira School to the pluralistic realism of the Saiva Siddhanta. In this paper, a comparative study is made between the Kasamira Saivism and the Saiva Siddhanta which represent respectively the northern and the southern schools of Saivism.

Both the Saiva Siddhanta and Kasamira Saivism regard Siva as the ultimate reality, but while in the Saiva Siddhanta, Siva is the operative cause of the world, in the Kasamira Saivism, he is both the material and the efficient cause of the universe. The creation-theory of the former is the *satkayrya-vada*, while of the latter is the *abhasavada*. Kasamira Saivism believes that the individual

soul is of the nature of consciousness, and, therefore, it denies the plurality of souls. But the Saiva Siddhanta holds that souls are many, since each has a distinct body, Though the relation between Siva and Jiva is *advaita* in both the systems, but in the Kasamira Saivism, it stands for non-difference (*abheda*), and in the Saiva Siddhanta for non-separateness (*ananyata*).

In the Kasamira Saivism, moksa is the soul's recognition (pratyabhijna) of its identity with the ultimate Reality. And this identity is not a case of identity-in-difference, but of the merger of the jiva in the Lord. In the Saiva Siddhanta, the entitative difference between the God and the soul continues in the *moksa* too. *Moksa* here is not a state of bare identity, but is the experience of unity-in-duality.

In the conclusion, it may be pointed out that the Kasamira Saivism has affinity with the Advaita of Sankara, and the Saiva Siddhanta with the Visistadvaita of Ramanuja.



* Professor of Sanskrit, Birla Institute of Technology and Science, Pilani (Rajasthan)

आचार्य अभिनवगुप्त प्रणीत स्तोत्रों में रस-साधना का दर्शन

प्रो० रमाकान्त अङ्गिरस *

शिव-शक्ति के इस यामलभाव को परमेश्वर की इच्छामात्र से कल्पित होने के कारण किसी भी रूप में संवित् शिव से भिन्न न होने से उनमें अद्वैतता कभी खण्डित नहीं होती। लगता है परवर्ती वैष्णवसाहित्य में भी द्वैतता को अद्वैतता का ही रूप कल्पित करते हुए कहा गया है—“लीलार्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्”। परन्तु काश्मीर शैवाचार्यों ने ‘लीला’ पद के स्थान पर परमेश्वर की स्वेच्छा और उसके उन्मुक्त स्वातन्त्र्य को ही क्रीडारस में उपयोगी बनाया। अभिनव कहते हैं:-

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडा रसोत्सुकः।
विचित्रान् सृष्टिं संहारान् विधन्ते युगपद् विभुः॥

अपनी ही विमर्शशक्ति से नित्यं क्रीड़ा करते हुए शिव का संपूर्ण सृष्टि में और मानवचेतना के प्रत्येक केन्द्रीय धरातल पर प्रतिपल जो क्रीडन हो रहा है वही तो नाट्यकला का मूल है। शिव की नाट्यक्रीड़ा में शिव स्वयम् ही नटराज की भूमिका करते हुए अज्ञान की ग्रन्थियों को तोड़ते हुए जब अपनी ‘स्व-शक्ति’ की अभिव्यक्ति करने लगते हैं तो घनिष्ठता या गहनता की उस सान्द्र अनुभूति में आनन्द रूप मोक्ष उच्छल हो उठता है -

“अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्ता मोक्षः
(परमार्थसार ६०) ॥

अभिनवगुप्त की रचना श्री बोधपञ्चदशिका के

टीकाकार श्री हरभट्टशास्त्री श्लोक १४ की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि शिव की अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से ही क्रीड़ा को प्रदर्शित करने के अभिप्राय से अन्तरात्मा के रङ्गमञ्च पर पृथक्-पृथक् भूमिका को लेकर विभाव और अनुभाव आदियों से व्यञ्जित तथा सात्विक भावों के सहचारी पृथक्-पृथक् स्थायिभावों के द्वारा उद्घाटित या उद्भासित होकर अलौकिक रस-सम्बन्धी चमत्कार का आस्वादन कराता है। जो लोग इस काव्य-नाटक-जन्य अर्थ को नहीं समझ पाते या उसके परमार्थज्ञान से निम्नस्तरीय अपराशक्तियों के बन्धन के कारण अपरिचित हैं उनका हृदय अविकसित या भीतर ही भीतर चल निकलने वाली अन्तस् की रसलहरी से खिल नहीं पाता—“अन्तःस्रावविहीनानां सदा सन्तप्त चेतसाम्”। यह अन्तःस्राव अभिनवगुप्त के मत में संवित् या पराचेतना का वह प्रसाद या निर्मलता है, जो एक बार भैरव शिव की परा प्रतिभा में डुबकी लगा आने के बाद प्राप्त हो जाती है। जिसे बाद फिर किसी प्रकार के उपाय या प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। सहज ही में स्वप्रकाशता या उस रस की उपलब्धि होने लगती है जिसे अध्यात्म की भाषा में शिव कहा जाता है -

उपायैर्न शिवोभाति भान्ति ते तत्प्रसादतः
स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः॥

त० आ० ३-६३.

आचार्य अभिनवगुप्त का यही शैव-काव्य का दर्शन

1. स्वेच्छयैव स्वात्मप्रच्छादनं क्रीडारसिकत्वान्महेश्वरो विश्वनाट्यक्रीडा प्रदर्शनाभिप्रायेण अन्तरात्मणे तत्तद्भूमिका ग्रहणं विदधत् विभावानुभावादिभिर्यज्जितैः सात्विकभावादिसहितैस्तन्मन्त्राधिभावैः समुन्मिषितामलौकिकरस चमत्कृतिमास्वादयति। एतद् वास्तवार्थं अभिज्ञान विरहादपराभिः शक्तिभिः प्रमुषित परमार्थानां बन्ध आभिमानो जायते।
बो० पं० पृ० १७.

* पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

है जो अभिनव भारती आदि समीक्षा-निकषों के ललाट पर स्वर्ण रेखाओं के रूप में उद्भासित हैं नाट्य आदि कलाओं में शैवी क्रीडा के अंगभूत विभाव, अनुभाव और संचारियों के सामरस्यमूलक संयोग से संविद् रूप शिव अथवा रस की अभिव्यक्तिपरक निष्पत्ति होती है।

काव्य-साहित्य या कला-समूह यदि जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं तो जीवन की अनेकरूपा अभिव्यक्ति या परिणामशीलता विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण के बीचों-बीच माननी होगी और जीवन की अभिव्यक्तियों को रसरूप शिवता के साथ जोड़कर देखना होगा और रस का वैलक्षण्य या लोकोत्तरता यही है कि वह विश्वमयता और विश्वोत्तीर्णता के शुक्र-शोणित में से उद्भूत होने पर भी स्वयं में नित्य-नवीन है। ऋग्वेद संभवतः इसी को अभिमुख बना कर "नवो नवो भवति जायमानः" अर्थात् वह तत्त्वाग्नि उत्पन्न होने की प्रक्रिया

को निमित्त बनाकर प्रति पग एक प्रकार की नवीनता से दूसरे प्रकार की नवीनता में प्रवेश करता चलता है। बन्धन और मुक्ति की अवधारणाएं तब स्वयं ही द्रवित होकर उसी में समाविष्ट हो जाती हैं। इस शैवी अनुभव-साधना में जो घटित होता है उसे आचार्य अभिनवगुप्त अपने सुप्रसिद्ध "अनुत्तराष्टिका स्तोत्र" काव्य में स्वरूपतः निरूपित करते हैं- कि राग द्वेष या सुख और असुखवर्ग के भावों का उदय और अस्त होना, अहंकार एवम् दैन्य आदि जितना भी भावसमूह है वे सब विश्ववपु शिव के ही भिन्न-भिन्न रूप होने के कारण स्वभावतः भिन्न नहीं होते। जब साधक या सिद्ध उस संवित् शिव की भावना या ऐक्यानुभव से संपन्न होकर उन समस्त भावों की विभिन्न अभिव्यक्तियों को शिवता की ही विभिन्न छवियों के रूप में देखने लगता है तो उसे रसानुसन्धान होने लगता है।



शिवाद्वयवाद दिक्षानाद्वयवादयोः साधार्यवैधर्म्ये

आर०एस० द्विवेदी *

कश्मीरं हि शैवबौद्धविचारयोः ऊत्सभूमिः तस्मात्तयोः विचारदर्शनमपि तुल्यितुं शक्यते। शिवाद्वैते यथा तात्त्विकदृष्ट्या जगदाभासे सत्यपि याथार्थ्यानुभूतिपरत्वं क्रियात्वपरत्वाद्भवति तथा विज्ञानाद्वयवादेऽपि जगतः परिणामत्वं चित्ते सामायोज्यत एव। विश्लेषणदृष्ट्या यथा शिवशम्योरभेदत्वाव्यायनेनाद्वैतत्वमनुभूयते तथैव प्रज्ञोपायत्वेन अभेदत्वेन लोकाद्वयभावत्वं प्रसन्न्यते विज्ञानाद्वयवादे। उभयोरद्वैतं तत्त्वात्मकमिति संसाधने कदाचिददेव वैभक्त्यं भवेत्तथापि वस्तुगत्या साम्यमस्त्येवेति। साधनपद्धतौ योगानुसरणे एतयोः साम्यमाविर्भावयितुमेव नूतनस्य मम बौद्धयोगाचारसम्प्रदायाय शैवाद्वैतेन साधनेऽपि किञ्चिन्नूतनं भवेदिति दृष्ट्या संक्षिप्तमेव तात्कालिकं प्रस्थानविन्दुं सभवभास्य साम्प्रतिकं सामाजिक परिस्थितीनां विरुद्धदृष्टीनामपि समन्वये कदाचिन्नूतनता समागच्छेत्, येन वाचिक साम्प्रदायिकविभेदपरक त्वमपसारयितुं प्रतीकं प्राप्नुयात्।



प्रत्यभिज्ञा दर्शन में सृष्टितत्त्व का विमर्श

प्रो० गङ्गाधर पण्डा*

शैव दर्शन सम्प्रदाय की कुछ प्रमुख विशेषता एवं भिन्नता को बताता हुआ यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन काश्मीर शैव दर्शन के नाम से भी प्रचलित एवं प्रसिद्ध है। 'मैं ही ईश्वर हूँ दूसरा कोई नहीं' इसे ही प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। इस दर्शन में जीव और ईश्वर का तादात्म्य माना गया है। साथ ही साथ ईश्वर की स्वतन्त्रता भी मानी जाती है और वह अपनी इच्छा से संसार को बनाता है, मिटाता भी है।

यहाँ सांख्य दर्शन के अनुसार मूलप्रकृति से समस्त सृष्टि की रचना मानी जाती है वहीं प्रत्यभिज्ञा दर्शन

ईश्वरेच्छा को सृष्टि का कारण मानता है। विपुल ऐश्वर्य वाले भगवान् शिव नियति का अनुवर्तन या उल्लंघन करने में स्वतन्त्र है। उनके पक्ष में कार्यकारणभाव के विषय में कोई भी असंगति नहीं होती। ईश्वर अपनी लीला से नियति का खण्डन कर सृष्टि रच सकते हैं। वे बिना उपकरणों के समूह का सहारा लिए इसे विचित्र संसार की रचना करते हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सांख्य दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा के अनुसार सृष्टि तत्त्व का विमर्श करने का प्रयत्न किया गया है।



* प्राचार्य एवं अध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द वि०वि०, वाराणसी।

Contribution of Saivism to the Uttaramimamsa

Dr. Shailaja Bapat

Saiva religion and philosophy have led down its influence on Indian religions and some important systems like Nyaya and vaisesika systems. Similarly, Saiva philosophy also deeply influenced Vedanta system. Srikantha the follower of Kashmir Saivism has written a commentary on the

Uttaramimamsasūtras of B adarayana vyasa. Present paper tries to focus some significant features of Srikantha's contribution to the Vedanta system with reference to his commentary on the *Uttaramimamsasūtras*.



Reader, Dept. of Sanskrit and Prakrit Languages. University of Poona, Pune - 7

लल्लघद के “वाखों” पर कश्मीर शैव दर्शन का प्रभाव

डॉ० बी. डन. कल्ला *

कश्मीरी साहित्य की प्रथम कवियत्री, लल्लघद शैवदर्शन की मर्मज्ञ थी क्योंकि उसने अपने गुरु के पास इसका गम्भीर अध्ययन किया था। वह इस अधीत ज्ञान राशि को जन साधारण तक पहुँचाना चाहती थी। इसलिए उसने अपने वाखों में शैवदर्शन को समोकर दो संस्कृतियों के कारण उत्पन्न मिली जुली प्रतिक्रिया को सुधारने की भरसक कोशिश की। उसने प्रत्यक्षरूप से हिन्दुओं पर हो रहे जुल्म को देखा था। उनकी निर्मम हत्या से उसका मन उद्वेलित हुआ। महर्षि वाल्मीकि की तरह उसका शोक ‘वाखों’ के माध्यम से प्रकट हुआ। इसका ज्वलन्त प्रमाण निम्न ‘वाक्’ (क. ‘वाख’) में पूर्णरूप से मिलता है :-

“शिव छुय थलि थलि रोजान मो जान ह्योद त्
मुसल्मान।

त्रुकुय दुख त पान प्रजभाव स्वयं छय सहिबस
जाऽनी जान।”

इस ‘वाख’ में लल्लघद इस बात पर जोर देती है कि शिव सर्वव्यापक है। वस्तुतः यह ब्रह्माण्ड उसी का रूप है। जिस तरह उसके प्रकाश में कोई भेद दिखाई नहीं देता है उसी तरह हिन्दू तथा मुसलमान में कोई भेद नज़र नहीं आता है। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों प्रकाश

के कण हैं क्योंकि दोनों ही उसी के स्वरूप हैं। अपने आप को पहचान कर ही मनुष्य शिव का असली स्वरूप जान सकता है अर्थात् उसे वास्तविक अभेद ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में ‘अह मिदम्’ यानी मैं ही यह हूँ। मुझ से कोई चीज़ अलग-थलग नहीं है। इस तरह आत्मप्रत्यभिज्ञा ही इस दर्शन का सार है। यह दर्शन शैवशास्त्र में ‘प्रत्यभिज्ञा’ के नाम से प्रसिद्ध है। इस दर्शन का उदाहरण हमें इस दूसरे ‘वाख’ में भी मिलता है :-

“लल ब डायस लोलरे छाड़ान लूसुम घन क्यहो
राथ ॥

बुदुम पंडिथ पननि गरे सुय म्य वटमस व्यछतुर त्
साथ ॥”

इस ‘वाख’ में वह बताती है कि मैं लल्ला प्रीत की मतवाली सत्य को ढूँढने निकल पड़ी। ढूँढते-ढूँढते दिन ढला, रातें बीतीं। अन्ततः देखा तो पंडित (परमशिव) मेरे अपने घर में ही था। वह शुभ मुहूर्त मैंने माना। अर्थात् अपने आप में उसे पाना ही मेरे लिए एक शुभ घड़ी थी। वास्तव में मनुष्य उसी प्रकार ईश्वर को बाहिर ढूँढता है। जिस प्रकार मृग कस्तूरी की सुगन्ध को बाहिर ढूँढता है। मगर उसे यह मालूम नहीं होता है कि जो सुगन्ध उसे आती है वह उसके नाभिस्थान में ही विद्यमान है।



* श्रीनगर, कश्मीर

काश्मीर शैवदर्शन के प्रमुख तत्त्व

डॉ० अनिल कैलासचन्द्र शास्त्री *

काश्मीर भारत का मूर्धस्थान। काश्मीर सरस्वती का निवास। काश्मीर में "गृहे गृहे शास्त्रचर्चा" और गृहे गृहे "काव्यगानम्" देखा जाता था। काश्मीर पृथ्वी का स्वर्ग, द्राक्ष, अखरोट, केसर के लिए प्रसिद्ध।

काश्मीर में सदाशिव की उपासना। काश्मीर शैवदर्शन काश्मीर की सबसे बड़ी देन।

काश्मीरी शैवदर्शन की (1) स्पन्दशास्त्र (2) प्रत्यभिज्ञाशास्त्र और (3) त्रिक या त्र्यम्बकशास्त्र ये तीन शाखाएँ। मूल ग्रंथ 'शिवसूत्र'। आचार्यों में वसुगुप्त, कल्लटाचार्य, उत्पलाचार्य, अभिनव गुप्त आदि उल्लेखनीय। शिवसूत्रों के साथ 'शिवदृष्टि', 'तन्त्रालोक', 'तंत्रसार' आदि ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं। 'आगमशास्त्र' भी महत्त्व के शास्त्र है जो स्वयं शिव द्वारा कहे गए हैं।

काश्मीरी शैवदर्शन में ३६ तत्त्वों की चर्चा की गई है। मैंने 'षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहः', 'पराप्रवेशिका', 'शिवदृष्टिः' आदि ग्रन्थों का आधार लेकर चर्चा करने का प्रयास किया है।

पराप्रवेशिका के पृ० ६ पर ३६ तत्त्वों का नाम उल्लेख है। यथा १ शिव २ शक्ति ३ सदाशिव ४ ईश्वर ५ शुद्ध विद्या ६ माया ७ कला ८ विद्या ९ राग १० काल

११ नियति १२ पुरुष १३ प्रकृति १४ बुद्धि १५ अहंकार १६ मनः १७ श्रोत्र १८ त्वक् १९ चक्षुः २० जिह्वा २१ घ्राण २२ वाक् २३ पाणि २४ पाद २५ पायु २६ उपस्थ २७ शब्द २८ स्पर्श २९ रूप ३० रस ३१ गन्ध ३२ आकाश ३३ वायु ३४ वाह्नि ३५ सलिल ३६ भूमि। अथैवां लक्षणानि-ऐसा लिखकर पृ० ६ से पृ० १० तक उपरोक्त तत्त्वों का लक्षण दिया गया है।

काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार परमशिव प्रथम तत्त्व है। शिवतत्त्व परम शिव का प्रथम स्पन्द, शक्तितत्त्व परमशिव का हृदय या बीजावस्था, शिव-शक्ति में अभेद, सदाशिव का भी महत्त्व का स्थान, परम शिव की इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति का महत्त्व, शुद्धविद्यादि का भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

प्रमुख तत्त्वों के साथ अन्य तत्त्वों का विवेचन करके ३६ तत्त्वों का काश्मीर शैवदर्शन में जो महत्त्व है यह सिद्ध करने का प्रयास किया है।

तत्त्वमीमांसा का सार यह है कि -

अखिल विश्व शिवमय है।

॥ इति शिवम् ॥

॥ ॐ नमः शिवाय ॥



* रीडर इन संस्कृत, संस्कृत और भारतीय विद्या विभाग, उत्तर गुजरात विश्वविद्यालय, पाटन-(उ०गु०) 384265

कश्मीर के लोगों पर शैव दर्शन का प्रभाव

डॉ० सत्यभामा राजदान*

वर्तमान कश्मीर शैवदर्शन का प्रादुर्भाव एवं विकास काश्मीर प्रदेश में आठवीं शती ईस्वी से लेकर 12वीं शती ईस्वी तक हुआ। यह वह स्वर्णिम काल था जब कश्मीर में शैव दर्शन के प्रकाण्ड पण्डितों, दार्शनिकों एवं आचार्यों ने जन्म लिया जिनमें वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पलदेव तथा अभिनवगुप्त जैसे आचार्यों ने एक नई दार्शनिक विचारधारा का प्रचार एवं प्रसार किया जिसे विश्व भर में कश्मीर शैव दर्शन की संज्ञा से जाना जाता है। चार शतियों की दीर्घावधि में इस दर्शन का कश्मीर में अधिकाधिक विकास हुआ। इस शाखा के जो आचार्य 12वीं शती ईस्वी में हुये वे प्रमुख रूप से भाषाकार अथवा व्याख्याकार थे। इन आचार्यों में क्षेमराज, योगराज तथा जयरथ जैसे नाम उल्लेख्य हैं। 12वीं शती ईस्वी से

लेकर कश्मीर के लोगों में इस दर्शन के अध्ययन एवं अन्वेषण की धारा निरन्तर अबाधगति से प्रवाहित होती रही तथा समय-समय पर यहाँ की पावन धरती पर संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डितों एवं दार्शनिकों ने जन्म लिया जिन्होंने इस दर्शन के भरपूर विकास में अपना योगदान दिया। कश्मीरी भाषा के साहित्य में इस दर्शन पर आधारित प्रथम रचना 13वीं शती में शितिकण्ठ द्वारा रचित महानय प्रकाश है। 14वीं शती ईस्वी में शैव कवयित्री ललेश्वरी तथा सूफी सन्त नुन्द ऋषि ने जन्म लिया। इन दोनों रहस्यवादी कवियों ने मन्दिर में पूजा करने अथवा मस्जिद में नमाज पढ़ने तथा माला जपने की अपेक्षा ईर्ष्या तथा द्वेष छोड़ कर मानवीयता को जागृत करने का उपदेश दिया है।



* कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर।

SAIVISM IN KĀSHMIR

Dr. R.S. Hiramath*

The absolutistic development of the Saiva tradition in Kashmir is not opposed to the spirit of Saivism. Infact advaitism seems to be the very essence of the Agamas. The philosophical genius of the Saivites of Kashmir consists in the fact that they transformed the earlier monistic tendencies within their tradition into a systematic and well developed Absolutism, Kashmir Saivism is a well developed system. It is rightly deserves a place amongst the great philosophier of the world. It is only during the last two decades that the system has brought to light. The development of the Saiva thought in Kashmir especially Kaulism has been influenced by the teachings of the Upanisads. There is also a close affinity between Kashmir Saivism and Gita. There

are frequent quotations from the Upanisads in many texts of the system. The Buddhist thought was predominant in Kashmir before the emergence of absolutistic, Saivism. Saivism has its own ancient tradition, there has been a tremendous influence of Buddhism in Kashmir. Saivism was confined to a simple form of worship. The Saiva Absolutism of Kashmir is based upon the 64 monistic Saiva Agamas. Kashmir Saivism has been referred to as Pratyabhijns Darsana. But the entire Saiva thought of Kashmir cannot be identified with the Pratyabhijna. The Saiva monism of Kashmir includes many important branches or system. There are three clearly distinct branches of thought within Kashmir Saivism viz. Kramu, Kaula and Pratyabhijna.



* Inst. of Kannada Studies, Karnatak University, Dharwad-3.

Kashmira Shaivism in Historical out-line

*Dr. Ram Nandan Singh**

The origin of Shaivism dates back to the Vedic period. The Yajurveda refers to the Shatarudriya. In the Taittiriya Āranyaka, Rudra or Shiva is manifested as the whole universe. Shiva or Rudra has been exalted and glorified in the Upanisads, the Mahābhārata and the Purāṇas. The Crononical literature of the Shaivas is called the Shaivāgama.

According to Madhavacharya, there are primarily four schools of Shaivism, such as Nakulish-pashupatā, Shaiva, Pratyabhijna and Raseshvara. Further-more, Shaivism has been bifurcated into Vira Shaivism or Shaktivishistadvaita and Shaiva Siddhanta.

Out of above-noted schools of Shaivism, geographically speaking, the Pratyabhijna school of the Shaivism is known as the Kashmira Shaivism or the Northern Shaivism whereas the Shaiva-Siddhanta school of Shaivism is called the southern Shaivism.

The Kashmira Shaivism has a huge corpus of literature, such as Shaiva sutra, spandakarika of Vasugupta, Shivadrsti of Somānanda, Pratyabhijnasutra of Utpada, Paramārthsara, Tantrāloka and Pratyabhijnavimarshini of Abhinavagupta, Spandasandoha and Shaivasutravimarshini of Ksemraj. and so on.

The philosophy of Kashmira Shaivism is solely based on Shiva. Shiva is omnipresent, omnipotent and omniscient. Shiva is only absolute reality, infinite consciousness and totally independent. The doctrine of analysis has also been applied for the proper understanding of Kashmira Shaivism. There are thirty-six principles of cosmic manifestation.

In Kashmira Shaivism, Liberation is achieved with the help of pratyabhijna, that is to say, recognition of Shiva. The liberation or Moksa is obtained only when one recognizes Shiva in toto.



* M.A., M.Phil, Ph.D. Senior Lecturer, Department of Buddhist Studies, University of Jammu, Jammu.

Kashmir Shaivism is a Perfect Philosophy

*Dr. S.P. Shrivatsa**

From the time immemorial Kashmir has contributed much in the field of literature and philosophy. It is this land of Kashmir where during later part of 8th century saint Vasugupta had visioned Shiva sutras in a dream inscribed on a nearly rock of the Maheshwar mountain. These pious sutras have formed a great tradition of Kashmir Shaivism.

In Shiva sutras we find the teachings of the Trika system of the Trika shastra including spanda shastra and pratyabhijna shastra. All the three refer to Shiva-Shakti and Anu. There is a long tradition of the scholars of Kashmir Shaivism in Kashmir. Amongst them kallata, Soma Nanda, Utpaladeva, Kshemraja, Khemendra, Shripantha, Maheshwarananda and Abhinavagupta were very Prominent and popular.

Though like vedanta philosophy Kashmir-Shaivism also preaches non-dualism (Advaita), it differs from the former in many ways. While vedanta says that there is

difference between real and unreal, knowledge and ignorance, the eternal and falsehood (Brahma-satyam jagatmithya), Kashmir Shaivism preaches-“Mamaivedam vishwam siva swaroop vijrimbhan matram.”

Thus basic difference between two is obvious. The concept of Shakti in Kashmir Shaivism is also very clear. Shrikantha says in his commentary of Mahanaya prakash that Shakti is not separate of distinct identity from Shiva. She is the inseparable part of PARAMASHIVA. They are not two but one. She however, manifests herself in five ways i.e. creation, Maintenance, Dissolution, Anakhya and Bhasa which in other words are known as Kriya, jnana, Iccha, Udyoga and Pratibha. The manifested world is nothing but Shakti. According to Maheshwarananda. Her creation is also known as udyoga, Avabhasa, Charvana and Atmavilapana.

Thus it is obvious that Kashmir Shaivism is perfect philosophy.



* 47/5 Roop Nagar, Jammu — 180 013

काश्मीर शैव-दर्शन में सौन्दर्य-चेतना की मूल-अवधारणाएं

आशुतोष आङ्गिरस*

मानव के हृदय में जब भी स्पन्दन हुआ तो उसने उस स्पन्दन को कभी काव्य में, कभी मूर्ति में, कभी नृत्य, चित्रकला इत्यादि के माध्यम से ग्रहण करने का प्रयत्न किया। लेकिन यह ग्रहण क्रिया कभी पूर्ण नहीं हुई। क्योंकि यदि रचना के माध्यम से स्पन्दन को पूर्णरूप से ग्रहण कर लिया जाता तो आगे आने वाली सारी मानव जाति के जीने की उत्साह-पूर्ण सम्भावनाएं नष्ट हो जातीं। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। आदिकाल से ही रचनाएं होती आ रही हैं और भविष्य में भी होती रहेंगी। सम्पूर्ण मानवजाति उस स्पन्दन को, आनन्द की स्फुरता को अपनी अपनी शक्ति के अनुसार बढ़ करने का प्रयत्न करती रही है और कर रही है। इसलिए रचनाएं अपने आप में पूर्ण होकर भी उस परम-तत्त्व के अंश-मात्र को ही ग्रहण कर सकी हैं। इसलिए मनुष्य के पास जीवन जीने की सम्भावनाएं शेष हैं। उस परम तत्त्व या परा संविततत्त्व को संपूर्णता से गृहीत करने की सम्भावनाएं जीव को पशु स्तर से ऊपर उठ कर जीवन जीने की प्रेरणा देती है। इस सम्भावना में ही जीवन का अर्थ निहित है और वह अर्थ सौन्दर्य है। क्योंकि सत्, चित्, आनन्द रूप सौन्दर्य की त्रिकता मानव को जीवन के प्रति अनन्त सम्भावनाएं, अपरिमित व्याख्याएं प्रदान करती है। क्योंकि त्रिक का अर्थ सबसे आगे रहने वाला गतिशील तत्त्व है।¹ इसलिए कभी चित्, कभी आनन्द, कभी सत् और कभी तीनों संयुक्त रूप से उस सम्भावना की ओर संकेत करते हैं जिसे आर्ष सौन्दर्य-दृष्टि ने विष्णु के चतुर्थ पाद के रूप में पुरुष

सूक्त, नारदीय सूक्त, रात्रिसूक्त, वाक्सूक्त में देखा है। लेकिन कई भारतीय दर्शनों द्वारा इन अपरिमित सम्भावनाओं को मिथ्या मान कर एक मात्र ब्रह्म को या एक मात्र शून्य को या केवल परमाणुओं को या प्रकृति-पुरुष को अपना साध्य बना लिया गया। जिससे सारे भारतीय मानस के, भारतीय व्यवस्था के कर्म और ज्ञान में, योग और भोग में असमंजसता की स्थिति उत्पन्न हो गई। सभी ने अपने अपने अतिवाद के कारण भारतीय जीवन-पद्धति को अव्यवस्थित कर दिया, और समाज के लिए, लोक के लिए विशेष सिद्ध भी कुछ न हुआ।

ऐसे समय में शैव दर्शन ने आर्ष-दृष्टि को लेकर भौतिकता एवम् अति-भौतिकता, लौकिकता में अलौकिकता के प्रति सौन्दर्य-दृष्टि प्रदान की, जिस कारण से भौतिकता में अति भौतिकता, लौकिकता में अलौकिकता का समावेश हो सकता है, और अलौकिकता, अतिभौतिकता अमूर्त या अग्राह्य नहीं होने पाती। अतएव “योगश्च भोगश्च करस्थ एव” उक्ति की सार्थकता में कोई द्वन्द्व नहीं रहता। और जीव एवम् जीव-सृष्टि अतिवाद से पीड़ित नहीं होती। इस सहज दृष्टि का विकास करके वेदान्त के ब्रह्म में, मीमांसा के कर्म में, वैशेषिक के अणु में, योग के चित्त में, न्याय की ज्ञान-मीमांसा में, सांख्य के प्रकृति-पुरुष में, बौद्धों के शून्य में उस समन्वयधारा को प्राप्त कर जीव शिव-भाव में रहता हुआ जीवन के प्रति अनन्त सम्भावनाएं खोज लेता है। और वे सम्भावनाएं सौन्दर्य में निहित हैं।



काश्मीर शैवदर्शन और वाक्

डा० कर्तार चन्द शर्मा*

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरसंसारं न दीप्यते ॥

“वाक्” शब्दव्यवहार का मूल तत्त्व है। ऋग्वैदिक काल से ही इसकी अवधारणा भारतीय दर्शन में प्राप्त होती है, किन्तु शैवदर्शन और व्याकरण-दर्शन इसकी जिस तथ्यात्मक भूमि का स्पर्श करते हैं, वह अन्यत्र सुदुर्लभ है। काश्मीर-शैवागम में वाक् : परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भेद से चार प्रकार की है। इनकी “परा” वाक् रहस्यात्मक, चित्तिस्वरूप और महासत्ता है -

चित्ति प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥

वैयाकरण भर्तृहरि वाक् के इन भेदों से प्रभावित हुए। परन्तु उन्होंने परा वाक् को अपने दर्शन में स्थान नहीं दिया। शेष तीन भेदों की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की, जो तन्त्र-ग्रन्थों में गृहीत व्याख्याओं से बहुत दूर तक भिन्न है। भर्तृहरि के इस वाक् सिद्धान्त का खंडन करते हुए सोमानन्द तथा उसके शिष्य उत्पलदेव ने वाक् के जिन तत्त्वों को स्पष्ट किया है, उससे शैव-दर्शन में इसकी विकासधारा को बल अवश्य मिला है। शाब्दिकों के सिद्धान्त के प्रत्याख्यान के समय वहाँ अनेक ऐसे तत्त्वों का उल्लेख हुआ है, जो अपने आप में गम्भीर और अपने सम्प्रदाय के गूढ़ सिद्धान्तों के द्योतक हैं।

प्रस्तुत शोध-पत्र काश्मीर शैव-दर्शन में वाक् के स्वरूप, भेद और अवधारणा को स्पष्ट करने की दिशा में एक विनम्र प्रयास है।



* पूना वि०वि० पूना(महाराष्ट्र)

कश्मीर शैव दर्शन में परमतत्त्व

श्रद्धा सिंह*

भारतीय दर्शनशास्त्र में कश्मीर शैव दर्शन का विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान है। जैसा नाम से ही स्पष्ट है यहां शिव ही परमतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है। सृष्टि में जो भी कुछ है, वह सब शिव का ही रूप है। वह प्रकाश से परिपूर्ण, स्वयं में सदा विश्रान्त मन और वाक् से परे है।

प्रकाशरूप शिव - प्रकाश ही परमेश्वर का स्वरूप या स्वभाव है। प्रकाश शब्द से यहाँ तात्पर्य चेतना का अवभासात्मक प्रकाश ही है। प्रकाशरूप होने के कारण ही वह प्रतिबिम्बों का ग्रहण भी करता है तथा उनका स्वयं से अभेदरूप से पृथक् भी करता है। सृष्टि का विस्तार उसके प्रकाश का ही माहात्म्य है, इसीलिये कहा भी है - 'प्रकाशात्मकः शिवः परमतत्त्वम्।' तन्त्रालोक 1-52 में उद्धृत।

विमर्शरूप - शिव का प्रकाश सर्वदा विमर्श से युक्त ही होता है। विमर्श परमसत् की आत्मचेतना है। विमर्श के कारण ही शिव कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यताकर्तु समर्थ होता है। विमर्श शिव के सभी रूपों में श्रेष्ठ है, जो उसके स्वतन्त्र कर्तृत्व को प्रकाशित करता है।

प्रकाशविमर्श का अभेद - प्रकाश और विमर्श का

भेद मात्र शब्दों का ही है। परमेश्वर अपने वास्तविक रूप में शुद्ध प्रकाश और विमर्शरूप दोनों ही है। परमेश्वर की प्रकाशविमर्शरूपता ही सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है, तभी वह संवित, परब्रह्म, परमेश्वर आदि कहा जाता है।

अस्ति-भाति - अस्ति और भाति शिव के प्रकाशविमर्शमय रूप को ही स्पष्ट करते हैं। अस्ति रूप में शिव नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त विश्वोत्तीर्ण है, वहाँ भाति पक्ष में शिव इस विश्व के रूप में दिखाई देते हैं। एक अभिनेता की भांति वह विविध रूप धारण करते हैं, कभी बन्धनग्रस्त होते हैं, तो कभी मुक्त। शिव एक ही समय में अस्ति और भाति दोनों रूपों में भासित होते हैं।

शिव का स्वातन्त्र्य - शिव अपने कार्य को करने में पूर्ण स्वतन्त्र है। वह स्वेच्छा से ही विश्व के समस्त पदार्थों को आभासित करते हैं। वह जानने, इच्छा करने और क्रिया करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। वह विकल्प कल्पनाओं के इन्द्रजाल की रचना करता है फिर स्वयं को उस बंधन में डालकर प्रसन्न भी होता है। पति से पशु बनना और पशु से पति बनना ये सब उसके स्वातन्त्र्य के ही विलास हैं।



* शोध छात्रा, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

काश्मीरे द्वैतशैव सिद्धान्तस्य आचार्याः

डॉ० रामपूजन पाण्डेयः*

सयोज्यातिमहोदयस्य महान्तोऽनुवर्तिनः काश्मीरे सम-भूबान्निति स्पष्टीभवति ताभिर्मितमोक्षका क्रिया उपरि काश्मीरिकद्वितीयरामकण्ठविरचितायाष्टीकाया दिग्दर्शनेन । तत्र च टीकान्ते अस्ति पद्यमिदम्-

इति मोक्षकारिकायां नारायणकण्ठसूनुनारचिता ।
संक्षेपाद् वृत्तिरियं शिष्यहिता सदृशमकण्डेन । इति ।
द्वितीयो रामकण्ठः काश्मीरिक आसीदिति
नादकारिकान्ते तदूचनादेवाकल्यते, यथोक्तम्-

इति नादसि द्विमेनामकरोच्चसिमकण्ठोडत्र ।
नारायणकण्ठसुतः काश्मीरे वृत्तपञ्च विंशत्या ॥

अद्वैतशैवदर्शनव्याख्याकाराः सोमानन्द-
कामच्छोत्पञ्चदेवः लक्ष्मणगुप्तभि नवगुप्तक्षेमराजादयो
महान्तः सुप्रसिद्धाः । द्वैतशैवसिद्धान्त प्रतिपादकौ
काश्मीरिकौ एकवंशजातौ दौ रामकण्ठौ आस्तामिति
अनुपदमेव साधयिष्यते?

प्रथमो रामकण्ठो न केवलम् अद्वैतप्रतिपादिकायाः
स्पन्दकारिकायाष्टीकां व्यदधादपितु सद्वृत्ति
नामकमपरमपि ग्रन्थरत्नं व्यलिखत्, यस्यानुकरणं
श्रीकण्ठः स्वीयरत्नत्रये कृतवानिति तद्ग्रन्थ-
समाप्त्युपलभ्यमानाद् वाक्यात् स्पष्टीभवति । यथाह -

“कृतिः श्रीमदुत्पलदेवपादपङ्गोपजीविनः
श्रीमद्राजानकरामकण्ठस्य” इति ।

श्रीरामकण्ठसद्वृत्तिं मयैवमनुकुर्वता ।

रत्नत्रयपरीक्षेयं कृता श्रीकण्ठसूरिणा । इति च ।

अयं प्रथमो रामकण्ठः मृगेन्द्रतन्त्रवृत्तिकर्ता नारायणकण्ठेन
स्वद्वैत गुरु परम्परामुल्लिखता इत्थं वर्णित :-

साक्षात्श्रीकण्ठनाथादिव सुकृतिजनानुग्रहायावर्तार्णाच्छ्रुत्वा
श्रीरामकण्ठाच्छिवमतकमलोन्मीलन् प्रौढभास्वान् ।

(मृ०वृ० 4) ।

अतः इदं स्पष्टं यत् काश्मीरे द्वैतशैवसिद्धान्त-
प्रतिपादकाः क्रमेणैवमभूवन्

1. रामकण्ठः प्रथमः ।

2. श्रीकण्ठः रत्नत्रयकर्ता ।

3. नारायणकण्ठो विद्याकण्ठद्वारा प्रथम
रामकण्ठप्रशिष्यः मृगेन्द्रवृत्तिकारः ।

4. रामकण्ठो द्वितीयः नारायणकण्ठतनयः । एतेन
बहूनां सिद्धान्तगमानामुपदि टीका रचिताः । तासु
मतङ्गागमटीका हस्तलिखिता कलिकातमथ राजकीय
संस्कृत-विद्यालयेऽद्यापि द्रष्टुं शक्यते ।

तत्पूर्ववर्तिभिराचार्यैः अर्थतत्त्वस्य समीक्षाऽद्वैत-
दृष्ट्या द्वैतदृष्ट्या च कृता आसीत् । हे लाराजः यो
वाक्यपदीयतृतीयकाण्डटीकान्ते आत्मानं काश्मीराजमुक्ता-
पीड (733 ई०) मन्त्रिलक्ष्मणवंशजत्वेन भूतिराज पुत्र त्वेन
च परिचिनोति, भूतिराजोऽभिनवगुप्तपाद गुरुरासीदिति
ईशवीयदशम शताब्द्यां समभवत् सोऽर्थतत्त्वमद्वैतदृष्ट्या
प्रत्यपादयत् । श्रीकण्ठश्च रत्नत्रये द्वैतदृष्ट्या तद्विवेचनं
कृतवान् । द्वैतसिद्धान्तमनुसरता द्वितीयेन रामकण्ठेन
स्वीयनादकारिकायां सिद्धान्तशैवमतानुसारं स्फोटवादः
समीक्षितः । पुर सद्योज्योतिः मोक्षकारिका-
परमोक्षकारिकेतिप्रसिद्धकृतिद्वये परदर्शनसम्मतमोक्षस्वरूप
खण्डनं चकार । द्वितीयः रामकण्ठः स्वकृततट्टीकयो - (9)
उत्पत्तिसमतापक्षम्, यदनुसारं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वञ्च
जीवे न स्वाभाविके, अपितु मोक्षे जामेहे ।

2. लकुलीशपाशुपतीयं समतासंक्रान्तिपक्षम्, यदनुसारं
कस्तूरीगन्धो वस्त्रमिव सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च
शिवान्मुक्ते संक्रामतः, (3) आवेशपक्षम्, यदनुसारं
स्वस्थानस्थो ग्रहः पुरुषविशेषमिव शिवस्थे
सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वे मुक्तिमाविशत इति मतत्रयं खण्डयित्वा
चतुर्थमभिव्यक्तिपक्षमस्थापयत्, यदनुसारं जीवे स्वाभाविके
सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वे मलतिरोहिते व्यपमतमले
मुक्तेऽभिव्यक्तीभवतः । अस्य अन्यत् कृतिद्वयं (1) मन्त्र
विवेक टीका (2) आगमविवेक इतिनामकं मोक्षकारिका-
परमोक्ष निरास कारिका-समुद्धरणाम्यामेव विज्ञायते ।



* प्रवाचको अध्यक्षश्च, दर्शनविभागे, श्री रणवीर के०सं०विद्यापीठम्, जम्मू- 180 004.

त्रिक् दर्शन में स्पन्द का महत्त्व

डॉ० स्नेहलता शर्मा*

काश्मीर शैव दर्शन को त्रिक् दर्शन के नाम से भी जाना जाता है। इसको त्रिक् कहे जाने का आधार इस पद्धति पर चलने वाले साधकों की विशेष मान्यता थी, जिस मान्यता के अनुसार जो कुछ भी विश्वोत्तीर्ण या विश्वरूप में भासमान है वह सब शिवात्मक, शक्त्यात्मक तथा नरात्मक रूप होने से त्रिक् रूप हैं।¹

त्रिक् शास्त्र वेदान्त के निर्विकल्प ज्ञान से ऊपर परमशिव के विज्ञान के रहस्यों का उद्घाटन करता है। इसी विज्ञान की क्रिया शक्ति को स्पन्द के रूप में त्रिक् दर्शन में वर्णित किया गया है। स्पन्द चेतन की गत्यात्मकता का दूसरा नाम है। चित् स्वरूप प्रकाश अर्थात् परमशिव में सृष्ट्युन्मुखता और उसका विलय - इस संकल्प के पीछे जो स्फुरणा है, वह स्फुरणा स्पन्द

नाम से कही गई है।²

इसलिए जब तक अध्यात्मक पथ का व्यक्ति स्पन्द शास्त्र को नहीं जानता, तब तक वह उस परमतत्त्व को भी नहीं समझ सकता। निर्विकल्प अवस्था से ऊपर निर्विशेष अवस्था का यह विषय है, जिसका प्रत्यक्ष उच्चकोटि के शाम्भव योगियों को ही सम्भव है।

जहां एक ही तत्त्व अपने पंच कृत्यात्मक स्वरूपों में उभरता है और सृष्टि का व्यापार प्रारम्भ करता है, उसको जाने बिना दर्शन की अन्य विधाएं भी निरर्थक हो जाती हैं। जैसे स्पन्द उस परमतत्त्व का प्राण है, वैसे ही समग्र दर्शनों का स्पन्द शास्त्र प्राण है, जो जीव, शिव और शक्ति के सम्बन्धों को स्पष्ट करता है। इसलिए इसकी महत्ता स्वयं सिद्ध है।



1. "नर-शक्ति- शिवात्मकं त्रिकम्।"

2. "शुद्धचिन्मात्ररूप सच्चित्सुखं स्पन्द इति परिभाष्यते।"

-(तंत्रसार, पृ० - 27)

* डा० स्नेह लता शर्मा, जम्मू।

परम माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त

दुष्यन्त शर्मा *

संस्कृत-साहित्य के विद्वानों में आचार्य अभिनवगुप्त असामान्य प्रतिभा वाले धुरन्धर विद्वान् थे। वे उच्च कोटि के कवि, महान् दार्शनिक एवं साहित्य-समीक्षक थे। इन की रचनाओं के अध्ययन से इन की विद्वता का अनुमान लगाया जा सकता है। अपनी कृति “परात्रिंशिका” और “तन्त्रालोक” की समाप्ति पर अभिनव गुप्त लिखते हैं कि गंगा-यमुना के मध्य ‘दुआव’ नामक स्थान पर उनके पूर्वजों का घर था। ‘दुआव’ कभी महान् साहित्यकारों का निवासस्थान रहा है और वहीं पर उच्च ब्राह्मण परिवार में अत्रिगुप्त जैसे विद्वान् उत्पन्न हुए थे जो ज्ञान की सभी शाखाओं में निपुण थे। इन्हीं के वंशज अभिनवगुप्त हैं। ये मूलतः दार्शनिक थे और ‘प्रत्यभिज्ञा’ दर्शन के मौलिक आचार्य होने के कारण ये ‘परम माहेश्वराचार्य’ की उदात्त पदवी से मण्डित किये जाते हैं। इन को योगिनी भूः भी कहा जाता है। इन्होंने अपने माता-पिता को आदरपूर्वक शक्ति-शिव के रूप में अभिव्यञ्जित करने उनकी सामरस्य अनुभूति से स्वयं को उत्पन्न माना है। कश्मीर के विद्वानों में भी यह मत प्रचलित है कि आचार्य अभिनवगुप्त मनुष्यरूप में भैरव थे। अभिनवगुप्त ने स्वयं कहा है कि कुछ भी लिखने से पहले वह अपने में निहित विचार में ध्यानस्थ होते थे। उनका कथन है कि बन्धन को जोड़ने वाले उस परम शिव को बारम्बार शरणागत होने पर वे बोधोज्ज्वल हो गये जिसके फलस्वरूप उन्होंने तन्त्रालोक लिखा। इससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने शिव के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया था। उन का कथन है कि

भैरव-अवस्था में व्यक्ति सदा जाग्रत रहता है और इस दशा में उस का सारा कार्य लोक कल्याणार्थ होता है। ये सब अभिनवगुप्त द्वारा अनुभूत है।

अभिनवगुप्त प्रकाण्ड विद्वान् तथा परम् शिव भक्त थे। ये आजीवन ब्रह्मचारी बने रहे और उन्होंने अनेक विषयों पर कुल मिला कर ४२ ग्रन्थों का प्रणयन किया जिन में ११ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। ये प्रकाशित ग्रन्थ हैं :-

1. बोधपञ्चदशिका-यह शिव-भक्ति-विषयक १५ श्लोकों का लघु ग्रन्थ है, 2. परात्रिंशिका विकृति-यह तन्त्रशास्त्र का ग्रन्थ है, 3. मालिनी-विजय-वार्तिक-यह मालिनी-विजय-तन्त्र नामक ग्रन्थ पर लिखा गया टीका ग्रन्थ है। 4. तन्त्रालोक-यह तन्त्र शास्त्र का विशाल ग्रन्थ है। 5. तन्त्रसार और 6. तन्त्रावल्थानिका ये दोनों तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थ हैं 7. ध्वन्यालोक पर लोचन टीका तथा 8. भरत नाट्य शास्त्र पर अभिनव भारती टीका। 9. भगवद्गीतार्थ संग्रह-10. परमार्थसार-105 श्लोकों का शैवागम-ग्रन्थ 11. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विभर्शिनी-टीका। इनके अन्य अप्रकाशित ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं : ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति-विमर्शिनी, क्रम स्तोत्र, भैरव स्तोत्र, देहस्थदेवताचक्र स्तोत्र, अनुभवनिवेदन, अनुतराष्टिका, परमार्थद्वादशिका, परमार्थचर्चा, महोपदेशविंशीतकम्, तन्त्रोच्चय, करमकेलि शिवदृष्ट्यालोचन, पूर्वपञ्चिका, पदार्थ-प्रवेश-निर्णय टीका, प्रकीर्णक विवरण, कथामुखतिलकम्, लघ्वी प्रक्रिया, देवी स्तोत्र-विवरण, तत्त्वाध्व-प्रकशिका, बिम्बप्रतिबिम्ब भाव, अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनी वृत्ति, नाट्यालोचन, परमार्थसंग्रह, अनुत्तर शतक।

* एम०ए०, एम०फिल् (संस्कृत) राजकीय कन्या उच्च विद्यालय, भौर कैम्प, जम्मू।

अभिनव गुप्त कृत इस विशाल ग्रन्थ राशि में अनेक दार्शनिक कृतियों के साथ साहित्यिक एवं तान्त्रिक रचनाएं भी हैं। इन के अनेकों शास्त्र रहस्यों से भरे हुए स्तोत्रों में से कुछ एक अब भी मिलते हैं जैसे क्रमस्त्रोत, भैरवस्तोत्र, अनुभवी निवेदन स्तोत्र, अनुत्तरोष्ट कास्तोत्र और देहस्थ-देवता चक्र-स्तोत्र। इन्होंने भगवद्गीता पर भी टीका लिखी, जो अनेकों विरोधात्मक पहेलियों को सुलझाती हुई गीता के अतिगूढ़ रहस्यार्थों पर प्रकाश डालती है।

आचार्य अभिनवगुप्त की दार्शनिक कृतियों का केन्द्र बिन्दु मोक्ष है। मोक्ष स्वरूप सम्बन्धी ग्रन्थ "परमार्थसार" में अभिनवगुप्त लिखते हैं कि मोक्ष का कोई पृथक् क्षेत्र नहीं है और न ही मनुष्य को इसकी ओर अग्रसर होना होता है, अपितु अज्ञान की ग्रन्थी का भेदन करने से मोक्ष को पहचानना है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का प्रकटीकरण ही मोक्ष है।



शांकर अद्वैतवाद के साथ प्रत्यभिज्ञादर्शन की तुलना

इन्द्र प्रकाश रैणा *

श्री शंकराचार्य के दर्शन को अद्वैत शैववाद में प्रायः शान्तब्रह्मवाद अथवा केवलाद्वैतवाद अथवा मायावेदान्तवाद कहते हैं। अद्वैत शैववाद को ईश्वराद्वयवाद प्रत्यभिज्ञादर्शन या त्रिकदर्शन कहते हैं।

श्री शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म निष्क्रिय है। अतः अद्वैत शैववाद शंकराचार्य के दर्शन को शान्त ब्रह्मवाद कहता है।

शान्तब्रह्मवाद और ईश्वराद्वयवाद का प्रथम मुख्य भेद

यह है कि शान्तब्रह्मवाद के अनुसार चित् या ब्रह्म का वैशिष्ट्य है— प्रकाश या ज्ञान, जबकि ईश्वराद्वयवाद के अनुसार चित् प्रकाश और विमर्श स्वरूप है। दूसरे शब्दों में शंकर के अनुसार ब्रह्म ज्ञान मात्र है, किन्तु ईश्वराद्वयवाद के अनुसार उसका वैशिष्ट्य ज्ञातृत्व और कर्तृत्व दोनों हैं। श्री शंकराचार्य के अनुसार क्रिया केवल जीव का धर्म है; ब्रह्म में क्रिया नहीं है।

अतः संक्षेप में हम दोनों दर्शनों के मत को एक सारणी में इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं :-

शान्त ब्रह्मवाद

1. चित् या ब्रह्म या प्रकाश ज्ञान मात्र है चित् निष्क्रिय है।
2. क्रिया अविद्या या माया का कार्य है।
3. माया अनिर्वचनीय है।

ईश्वराद्वयवाद

1. चित् प्रकाश और विमर्शमय है।
2. महेश्वर में स्वातंत्र्य है। इसलिए इसमें कर्तृव्य है।
3. माया शक्ति होने के कारण सत्य है।



‘सम्बन्धसिद्धौ आचार्योत्पलप्रतिपादितं सम्बन्ध स्वरूपम्’

डॉ० सुरेन्द्र मोहन मिश्र*

महामाहेश्वराचार्यो राजानक उत्पलदेवः (875-925 ई०) स्वसाधनया ग्रन्थकृतिभिश्च कश्मीर-शैवाचार्येषु, महम्महत्त्वपूर्णं स्थानमलञ्चक्रे। तस्य प्रणीतेषु दशषु ग्रन्थेषु सम्बन्धसिद्धिः बौद्धव्यामोह-निराकृत्तर्कवज्रपुरस्कृता सुतरां जीवेश्वरयोर्जगदीश्वरयोः सम्बन्धप्रतिपादननिष्ठा विलसति।

सप्तमशतकीयः प्रसिद्धो बौद्धाचार्यो धर्मकीर्तिः स्वप्रमाणवार्तिके सम्बन्धस्थापकं न्यायसिद्धान्तं तत्र सम्बन्धपरीक्षायां दूषयित्वा तस्य च सत्यतानित्यते निपुणतर्कैर्व्यसयत्। न्यायादिसिद्धान्ते प्रमुखतः नैरन्तर्यं, द्विष्टता, अपेक्षा पारतन्त्र्यञ्चेत्यादयः सम्बन्धघटकाः कल्पन्ते। एतत्सर्वं सत्यतासत्यतयोः नित्यतानित्यतयोश्च कस्मिन्नपि विकल्पे पर्यवसितुं न शक्यमिति धर्मकीर्तिः सामान्यावयवि-कल्पनावत् सम्बन्धकल्पनां निरालम्बनां किन्तु लोकव्यवहारप्रयोजिकां भ्रान्तिमेव मनुते।

धर्मकीर्तिपक्षमुद्दिश्य उत्पलदेवः त्रिकशासनानुसारं सम्बन्धं युक्तिभिः स्थापयितुं यतते। तन्मते - ईश्वरः स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या स्वेच्छया स्वस्मिन्नेव सकलप्रमेयरूपं जगत् विकाशयति, स्वमायाशक्त्याऽघटनघटनपटीयस्या च स्वयं स्वात्मसंकोचनप्रच्छादनक्रीडया पशुप्रमातृरूपमाधृत्य तत्तत्प्रमेयजातम् ऐन्द्रियकज्ञानगोचरं चिकीर्षति। त्रिकदर्शनस्य आभासवादसिद्धान्ते सत्यरूपस्य शिवस्य आभास भूतत्वात् जागदादिकं सर्वमपि सत्यमेव न तु मिथ्या। तत्र घटितसम्बन्धा अपि तेन सत्यभूताः न तु भ्रान्तिरूपा इति तदाशयः। लोकव्यवहारेऽपि यावन्तो वै सम्बन्धास्तेषु समालोचितेषु किमपि सम्बन्धसामान्यं निश्चीयते, तस्य च वस्तुवृत्तदृष्ट्या अपलापनं भ्रान्तिरित्यवधारणं तर्कतूलां तु नाधिकुरुते।

विश्लिष्टावस्थेस्वनेकेषु एकतासम्पादकः सम्बन्ध इति उत्पलः समुत्प्रेक्षते-‘संशब्देन सहार्थवृत्तिना

समानार्थवृत्तिना वा बन्धिना च देशान्तरपरिहार-पूर्वकैकदेशावस्थानमिति। एकमात्रतानेकताभिन्नमिदं सम्बन्धरूपमिति स परामृशति-‘न त्वनेकतैव नापि एकतैव अपितु उभयावस्थापेक्षोऽयमर्थः सम्बन्ध इति सम्बन्धोऽपि तन्मते नित्यं द्विष्ट एव-‘द्वयोरेकात्मतेति सम्बन्धशब्दार्थः’। सम्बन्धः सम्बन्धिभ्यां भिन्नस्तृतीयपरमेश्वर इति न्यायोक्तं मतं तेन न स्वीकृतम्। तन्मते तु-रूप स्व-‘सम्बन्धः पुनः द्वयोर्विशेष्यैकता न त्वेवं वस्त्वन्तरं आकाश-प्रकाशते-इत्ययं विशेषः। सम्बन्धस्य च तृतीयत्वे संकोच-दोषोऽयमुपपिष्ठते यत्तेषां त्रयाणामपि अख्याति-परस्परसम्बन्धप्रतिपादने मूलक्षयकारी अनवस्थादोषः रूप आ-प्रसज्यते।

द्वयोः सतोः एकात्मतायाः प्रतीतिरूपः सम्बन्धः सम्भवति। तां एकात्मतां विना पदार्थानां प्रकाशनसंकोच-परस्परसम्बन्धाघटितं स्यात्। तेन तु पुनः ज्ञानस्य प्रयोजनं है।¹ न सेतस्यतीति प्रतिपादयत्युत्पलः-“एकात्मतापत्तिपर्यन्तोऽवभासनव्यापारोऽर्थेषु ज्ञानानां, न तु परस्परा संलग्नतया प्रकाशमात्रात्परिसमाप्यते” पदार्थप्रकाशनापेक्षिता एकात्मतेयं न केवलं परिमितप्रमातृपर्यवस्यति, अपितु महाप्रकाशरूपे शिवे प्रतिक्षणं विश्राम्यति-“न केवलं च सम्बन्धमयैकतास्पर्शपरिमित-मायाप्रमातृपर्यवसायी वस्तुप्रकाशनव्यापारो, या-वदनन्तचिन्मयशिवतावभासविश्रान्तैव प्रतिक्षणं वस्तुसंवित्क्रिया..” इति स सिद्धान्तमुपन्यस्यति।

सम्बन्धसत्तादूषकान् धर्मकीर्तैः निखिलानपि आक्षेपान् तर्कतस्तथ्यतश्च समालोच्य तेषां निराकरणाय त्रिकशासनदृष्ट्या आचार्य उत्पलदेवः सम्बन्धसिद्धौ प्रवर्तते। धार्मिक दर्शनमिति प्रायः समाचक्षितं काश्मीर-शैवदर्शनं परमाचार्ययुक्तिरत्नैर्निर्नितातं प्रमाणतर्कपरिनिष्ठं प्रतिभातीति दिक् ॥



बन्ध एवं मल

न मिश्र *

करतार चन्द शर्मा *

परिहार-
भिन्नमिदं
तैव नापि
बन्ध इति।
कात्मतेति
नस्तृतीय
न्मते तु-
वस्त्वन्तरं
तृतीयत्वे
प्राणामपि
वस्थादोषः

सम्बन्धः
प्रकाशनं
य प्रयोजनं
युत्पलः-
ज्ञानानां, न
माप्यते”।

मितप्रमातरि
प्रतिक्षणं
र्षपरिमित-
ारो, या-
प्रतिक्षणं
ति।

खिलानपि
नराकरणाय
बन्धसिद्धौ
काश्मीर-
नपरिनिष्ठितं

अद्वैतशैव दर्शन में अज्ञान को ही मल कहा गया है और संसार बीज का कारण माना जाता है, अज्ञान से ही लोक बन्धन होता है और फिर उससे जन्म और मृत्यु का चक्र चलता है। “श्रीसर्वाचारतन्त्र” अनुसार परमेश्वर की अपनी स्वतन्त्रशक्ति का ही आवान्तर रूप स्वरूप गोपनरूप महामाया शक्ति अपने स्वात्मा में आकाशकल्प आश्रित शिव से लेकर माया प्रमात्रन्त जो संकोच अवभासित करती है, वह ही शिवाभेद अख्यातिरूप अज्ञान स्वभाव अपूर्णमयात्मक संकुचितज्ञान रूप आणवमल कहलाता है²। यह असीमित इच्छाशक्ति का ही संकोच रूप होता है³। पुनः ज्ञान शक्ति का संकोचरूप एवं भिन्न वेद्य प्रथारूप मायीयमल कहलाता है⁴। तथा क्रिया शक्ति का संकोच एवं

शुभाशुभवासनात्मक विविध ज्ञानरूपकार्ममल कहलाता है। जिस प्रकार इन तीन मलों से आवृत आत्मा संसारी अथवा बद्ध कहलाता है। जब तक इन तीनों मलों से छुटकारा प्राप्त न हो, तब तक जीव अपने शिवस्वरूप की अनुभूति नहीं कर सकता है। वह आवागमन के भँवर में फँस कर परतन्त्र पशु की तरह बन्धन में पड़ा रहता है। उत्पलदेवानुसार इन तीनों मलों को धो डालने के लिये अद्वैतशैव शास्त्रों का मनन-चिन्तन करना चाहिए, एवं इन के मर्मज्ञ महापुरुषों की शरण लेनी चाहिये। परन्तु ईश्वर भक्ति इनके क्षालन में सहज और उपयुक्त उपाय है, जिस से पारमार्थिक स्वरूप एवं आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार ही जीव बन्धन से छुटकारा पा सकता है।



1. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराड् कुरकारणम् ॥
अज्ञानदबध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहति ॥ मा०वि०
2. यः परमेश्वरेण स्वस्वातन्त्र्यशक्त्याभासितस्वरूप-गोपनारूपया
महामायाशक्त्या स्वात्मन्याकाशकल्पेऽनाश्रितात्प्रभृति मायाप्रमात्रन्तं
संकोचोऽवभासितः स एव शिवाभेदाख्यात्यात्मकाज्ञान-
स्वभावोऽपूर्णमन्यतात्मकाणवमलसतत्त्वसंकुचित ज्ञानात्मा बन्ध ॥। सर्व-तं०
3. अप्रतिहत स्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति संकुचिता सती अपूर्णमन्यतारूपम् आणवं मलम्। प्र०ह०टी०सू० 9
4. ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिन्नात्वात्तेः
अन्तः करण-बुद्धिन्द्रियतापत्ति पूर्वम् अत्यन्तं संकोचग्रहणेन
भिननवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्। पृ०ह०सू० 9
5. क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वात्तेः
कर्मेन्द्रियरूपसंकोचग्रहणपूर्वम् अत्यन्तं
परिमिततां प्राप्त शुभाशुभानुषानमयं कार्यमलम्। प्र०ह०सू० 1
6. त्रिमलक्षालिनो ग्रन्थाः सन्ति तत्पारमास्तथा।
योगिनः पण्डिताः स्व स्थास्त्वद्भक्ता एव तत्त्वतः ॥ शि०स्तो० 15/1

* शोधछात्र जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के आधार पर क्षेमराज का काश्मीर शैव दर्शन को योगदान

कमल किशोर

शांकरोपनिषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधेः ।

क्षेमेणोद्धियते सारः संसारविषशान्तये ॥

राजानक क्षेमराज की रचनाओं में से प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ने अपने लघुरूप एवं काश्मीर शैव दर्शन के सार रूप होने के कारण इस दर्शन को प्रसारित करने में एवं विश्व प्रसिद्धि दिलाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। काश्मीर शैव दर्शन के लगभग सभी सिद्धान्तों का संक्षेप में विवरण दिया गया है। जहाँ 36 तत्त्वों, सात प्रमाताओं एवं परम शिव के पांच कृत्यों का संक्षिप्त सारग्राही प्रतिपादन किया गया है। परम शिव की चित् शक्ति का विशद् निरूपण किया गया है। वास्तव में काश्मीर शैव दर्शन के अन्य ग्रन्थों में इस शक्ति का संक्षिप्त रूप में ही दिग्दर्शन होता है। परन्तु "प्रत्यभिज्ञाहृदयम्" में इस कमी को पूरा करके शक्ति और शिव की एकता पर बल दिया गया है।

इसी कारण इस दर्शन की असंख्य अन्य कृतियों में इसका स्थान अद्वितीय है। दक्षिण में शैववादी भी इससे प्रभावित हैं और वी. आर. सुब्राह्मण्य अय्यर ने 1918 में मद्रास में इसका तेलुगू में सम्पादन किया एवं

एम. लक्ष्मी नरसिंह ने भी 1920 में आलमपुर में इसका सम्पादन किया तथा तेलुगू में व्याख्या की। प्रस्तुत "प्रत्यभिज्ञाहृदयम्" के अंग्रेजी अनुवाद "कुर्ट. एफ. लेडक्कर" ने भी इसकी अन्य काश्मीरी कृतियों में विशेषता स्वीकार की है एवं इसी कारण इसका अनुवाद लिखा है। जे. सी. चैटर्जी इसकी प्रशंसा में कहते हैं कि इसका अद्वैत शैव में वही महत्वपूर्ण स्थान है, जो सदानन्द द्वारा प्रणीत वेदान्तसार को वेदान्त दर्शन में प्राप्त है।

अतः इन बातों से स्पष्ट है कि "प्रत्यभिज्ञाहृदयम्" का काश्मीर शैव दर्शन को प्रत्यक्ष क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है और इस दर्शन का यह अद्वितीय एवं सहज परिचय करा देने वाली कृति है आवश्यकता है इसके गहन अध्ययन एवं वर्णित उपदेश पर मनन, चिन्तन तथा अनुभव की, तभी क्षेमराज के "विश्व विष शान्तये" पूरा हो सकता है एवं जन-जन के कल्याण हेतु इस दर्शन के आविर्भाव का पुरुषार्थ हो सकता है।



काश्मीर शैव दर्शन—एक दृष्टिकोण

धर्मेन्द्र शर्मा *

में इसका

। प्रस्तुत

ट. एफ.

तियों से

अनुवाद

इते हैं कि

सदानन्द

त है।

है कि

को प्रत्येक

का यह

कृति है

ति उपदेश

मराज क

जन-जन

का पुरुषा

भारत वसुन्धरा में विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ है। भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने अपने प्रतिभ-चक्षु के द्वारा जिन सूक्ष्म तत्त्वों का साक्षात्कार किया है और अपनी कुशाग्र बुद्धि के द्वारा जिन सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है, वे दर्शन के इतिहास में नितान्त महत्त्वशाली हैं। भारतीय दर्शनों को मुख्यतया दो विभागों में बाँटा जा सकता है। वे दो विभाग हैं— वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन। यहां के प्रसिद्ध दर्शन वैदिक दर्शन हैं क्योंकि इन दर्शनों के सिद्धान्त वेदों के आधार पर ठहराए गये हैं। इसके विपरीत बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि दर्शन निर्विवाद ही अवैदिक दर्शन हैं। क्योंकि इनके सिद्धान्त वैदिक आधार पर नहीं ठहराए गये हैं।

अद्वैत शैव दर्शन भारत की एक अति प्राचीन विद्या है। प्रागैतिहासिक युग की सिन्धु घाटी की सभ्यता में यह विद्यमान थी। ऋग्वेद के दशम मण्डल में इस विद्या के अद्वैत सिद्धान्तों को स्थान मिला है। इस विद्या के वाङ्मय का आविर्भाव और सम्पूर्ण विकास कश्मीर में ही हुआ, जिससे इस दर्शन को काश्मीर शैव दर्शन के नाम से जाना जाता है।

[लगभग आठवीं शताब्दी में इस शाखा के तत्कालीन प्रधान गुरु आचार्यसंगमादित्य कश्मीर में आकर बस गए और इस तरह से इस दर्शन की स्थापना काश्मीर में हो गई।] काश्मीर मेधापीठ कहलाता है। यहां की उर्बरा मेधा में इस दर्शन की जड़ें खूब गहरी चली गई और यह विद्या कश्मीर में खूब फली और फूली। काश्मीर शैव दर्शन सभी दर्शनों से विलक्षण है। यह एक ऐसा दर्शन है जो वैदिक धर्म को स्वीकार करते हुए भी अपने शुद्ध आगमिक स्वभाव को स्पष्टतया अपनाये रखता है। इस दर्शन का सिद्धान्त है कि — "गर्भाधानादितः कृत्वा यावदुद्वाहमेव च। तावत्तु वैदिकं

कर्म पश्चाच्छैवे हि अनन्य भाक्।" अर्थात् साधक को गर्भाधान से लेकर विवाह तक के समस्त संस्कारों को वैदिक विधान के अनुसार निभाना चाहिए। इस प्रकार काश्मीर के शैव वैदिक धर्म से विरोध नहीं करते, प्रत्युत उसके पोषक हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में यद्यपि काश्मीर शैव दर्शन में तत्त्वों की संख्या (३६) छत्तीस मानी गयी है, परन्तु मूल रूप से सृष्टि का कारण तथा जगत् के सर्वस्व के रूप में शैव परमशिव को ही मूल परम तत्त्व मानते हैं। सामान्यतः जिन ३६ तत्त्वों को काश्मीर शैव दर्शन में बताया गया है— वे हैं — मूल प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पाँच तन्मात्राएं। अर्थात् शब्द तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, गन्ध तन्मात्रा (११) एकादश इन्द्रियाँ। अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ (और मन) ज्ञानेन्द्रियाँ — जैसे—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और त्वक्। कर्मेन्द्रियाँ — जैसे— वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। पाँच महाभूत अर्थात्— पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) तथा जीवात्मा पुरुष। इस प्रकार ये २५ तत्त्व तो सांख्य दर्शन में भी माने जाते हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त (११) ग्यारह और तत्त्व भी हैं जिन्हें मिलाकर काश्मीर शैव दर्शन के ३६ तत्त्व पूरे होते हैं, वे ग्यारह इस प्रकार हैं— सदाशिव, शक्ति तत्त्व, शिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति। इस प्रकार इन छत्तीस तत्त्वों को यद्यपि काश्मीर के शैव मानते हैं परन्तु मूल तत्त्व एक परम शिव को ही माना गया है। इस दर्शन ने एक ऐसी दृष्टि को अपनाने पर बल दिया है जिसमें सब कुछ शिवरूपतया ही देखा जाए। शैव दर्शन के पराद्वैत सिद्धान्त के अनुसार भी सब कुछ परमेश्वर ही है। विश्वोत्तीर्णता के पद पर भी वही चमकता है और विश्वमयता के पद पर भी वही विराजमान है।

* शोधच्छात्र, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार मोक्ष की दशा में जीव शिव के साक्षात् ज्ञान की मस्ती में इतना तन्मय हो जाता है कि अपनी सत्ता को भूल ही जाता है और उसकी अवधान दृष्टि में एक मात्र शिव की ही आनन्दमयी सत्ता शेष रह जाती है। उसके साक्षात् ज्ञान में पूरी तन्मयता से मुक्त प्राणी को भी शिव के परमानन्द के आस्वाद से सतत गति से होने वाला एक विचित्र चमत्कार चलता रहता है। उसे शिव भोग कहते हैं। इस शिवभोग की दशा को ही मोक्ष कहा जाता है। इस तरह से मोक्ष दशा में जीव की अपनी व्यक्तिगत सत्ता तो बनी रहती है परन्तु उसका आभास उसे होने नहीं पाता है। काश्मीर शैव दर्शन का मूलसिद्धान्त स्वातन्त्र्य कहलाता है। तदनुसार केवल परमेश्वर अर्थात् परमशिव ही एकमात्र परम सत्य तत्त्व है। शेष सब कुछ संसार में भासता है, सर्वथा मिथ्या न होकर उसी के स्वातन्त्र्य का विलास है तथा उसी की स्वाभाविक परमेश्वरता की अभिव्यक्तियों का विचित्र दृश्य है। इस प्रकार वह परम शिव प्रकाश स्वरूप है।

आचार्य सोमानन्द की “शिवदृष्टि” काश्मीर शैव दर्शन का सर्वप्रथम दार्शनिक ग्रन्थ माना जाता है। शिव दृष्टि के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु अर्थात् सब कुछ परमशिव का ही अंश है। इस प्रकार सब कुछ सत्य है और पूर्ण परम शिव है। विद्या भी परमशिव है और अविद्या भी। बन्धन भी वही है और मुक्ति भी। सावधान साधकों को सर्वत्र परमशिव भाव की ही अनुभूति हुआ करती है। जैसा कि शिव दृष्टि में स्पष्ट रूप से लिखा है—

“एवं सर्वेषु भावेषु सर्वसाम्ये व्यवस्थिते ।
तेन सर्वगतं सर्वं शिव रूपं निरूपितम् ॥”

इस प्रकार इस सुविशाल और सर्वव्यापक परमेश्वरता की दृष्टि को ही शैव दर्शन के आचार्यों ने पराद्वैत दर्शन कहा है। उन्होंने पराद्वैत उस दृष्टि को कहा है, जिसमें बन्धन, मुक्ति, जड़, चेतन आदि सभी प्रकार के द्वन्द्व समानरूप से परमशिव ही प्रतीत होते हैं। इस पराद्वैत के अनुसार बन्धन और मुक्ति की कल्पना केवल व्यवहार

मात्र ही है। दोनों तभी तक इस परस्पर विरुद्ध द्वन्द्व के आकार में प्रतीत होते हैं, जब तक पराद्वैत की दृष्टि खुलती नहीं। उसके खुल जाने पर समस्त विश्व को समान रूप से परमशिव ही जाना जाता है। काश्मीर शैव दर्शन भोग और मोक्ष दोनों की साथ-साथ साधना का उपदेश करता है। यदि इस शास्त्र का सदुपयोग वर्तमान काल की परिस्थितियों का विचार करते हुए किया जाए तो यह शास्त्र जनता को सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में प्रगति के पथ पर आगे ले जा सकता है। काश्मीर शैव दर्शन में अधिकार के विषय में किसी भी जाति का, वर्ण का या लिङ्गादि का विचार नहीं किया जाता। जिस मानव में परमेश्वर के प्रति सच्ची भक्ति हो और तत्त्व की जिज्ञासा हो, वह चाहे किसी भी धर्म से, जाति से, समाज से, परिवार से, वर्ण से अथवा लिङ्ग से सम्बन्ध रखते हुए भी इस शास्त्र की प्राप्ति का अधिकारी होता है। शैव सन्तों की इस विशालहृदयता के कारण और शैव दर्शन की इस उदार दृष्टि के कारण ही आगे कश्मीर में शैवों और सूफियों की मिली-जुली परम्परा का आविर्भाव भी हुआ, जिसमें श्री लल्लेश्वरी के शिष्य और शेख नुरुद्दीन जैसे सन्त प्रकट हुए। वह परम्परा कश्मीर में अभी तक चल रही है।

इस तरह से काश्मीर शैव दर्शन की अपनी अनेकों विशिष्टताएँ हैं, जिनके कारण इसे एक विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। परन्तु इस उत्कृष्ट मार्ग के अधिकारी प्रायः बड़ी संख्या में नहीं मिलते हैं। इसी कारण अन्य दर्शनों की अपेक्षा इसका प्रचार बहुत कम हुआ है। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है,—
“केतकी कुसुम सौरभे भृशं भृङ्गः, एव रसिकोनमक्षिका ।
भैरवीय-परमाद्वयार्चने कोऽपि रज्यति महेशचोदितः ॥”
अर्थात् केवड़े के पुष्प की सुगन्ध का रसिक काला भौरा ही होता है, शहद की मक्खी नहीं होती। (इसी भांति) पराद्वैतमयी शैवी साधना में भी किसी ऐसे अधिकारी की ही रुचि होती है जो भगवान शिव के अनुग्रह का पात्र बन चुका हो।

“शिवमस्तु”



कश्मीर शैव दर्शन में अनुग्रह-स्वरूप

अनिल कुमार पाठक*

कश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि का स्पन्द स्वयं शिव का आनंद-क्रीड़ा-विलास है। शैव-सिद्धांत के अनुसार शिव जीवों के लिए सृष्टि करता है। सृष्टि का अस्तित्व जगत् है। जगत् में सृष्टि प्रक्रिया होती है और जगत् ही सृष्टि की रक्षा करता है।

शैव-सिद्धांत ने ईश्वर के स्वभाव (Nature) के विषय में एक महत्वपूर्ण तथ्य को सामने लाया है। वह तथ्य है- जीव के प्रति ईश्वर का प्रेम। सांसारिक प्रेम में उतनी शुद्धता नहीं देखी जाती जितनी ईश्वरीय प्रेम की शुद्धता व निर्मलता में लक्षित होती है। ईश्वर का प्रेम पूर्णतः शब्द है अर्थात् शिव का प्रेम जीव के प्रति निःस्वार्थ है।

शिव पूर्ण है, उसे जीवों से किंचित् मात्र भी अपेक्षित भाव नहीं है। उसकी भावनाएं जीवों के हित में शुद्धता के साथ स्वार्थरहित भाव परिलक्षित होता है। शिव चूंकि स्वातंत्र्य में जीवों का कल्याण करता है इसलिए उसके इस कार्य को 'अनुग्रह' कहते हैं। सृष्टि करने के लिए जीवों की ओर से अथवा किसी ओर से शिव पर कोई बन्धन नहीं है फिर भी शिव शुद्ध प्रेम वश

अपनी स्वतन्त्र इच्छा से जीवों के हित के लिए सृष्टि करता है।

यहां एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है- यदि निःस्वार्थ शुद्ध प्रेम से जीवों का भले ही कल्याण होता है, किंतु ईश्वर को इससे क्या उपलब्धि है? इस आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रेम करने वाले की दृष्टि से प्रेम का लाभ है। उत्तर की पुष्टि में हम यह कह सकते हैं कि प्रेम का यह अप्रतिम लाभ है कि यह देने वाले तथा लेने वाले दोनों को परितृप्त करता है। इसी संदर्भ में अंग्रेजी साहित्य का प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर दया Mercy के बारे में कहते हैं कि यह दोनों ओर से धन्य है-जो देता है वह भी धन्य है, जो लेता है वह भी धन्य है। उदाहरणार्थ

Mercy is Double blessed, it blisseth him that gives and him that takes. यही बात प्रेम के लिए भी कही जा सकती है। प्रेम में गहन तृप्ति एवं आनन्द की अनुभूति है। प्रेम हमारे स्वरूप का ही आनंद सागर है जिसमें समस्त जीव अपने स्तर से आनंदित होते हैं।



* शोध छात्र, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

कश्मीर शैव दर्शन का उद्भव एवं विकास

वीना चाड़क *

शैवधर्म संसार के प्राचीन धर्मों में से एक है। इसकी कई शाखाएँ संसार के भिन्न-2 प्रदेशों में फैली हैं। भारत में इसके चार प्रधान सम्प्रदाय प्रचलित हैं— राजस्थान में पाशुपत शैव, तामिलनाडू में सिद्धान्त शैव और दक्षिण कर्नाटक का वीर शैव तथा कश्मीर में 'अद्वैत शैव'। इन चारों में कुछ समानता है, परन्तु भेद भी बहुत है।

शैवदर्शन के इतिहास पर दो दृष्टियों ऐतिहासिक (अथवा पुरातत्त्व शास्त्रीय) तथा शास्त्रीय से विचार किया जाता है। ऐतिहासिक खोजों के आधार पर शैवधर्म को अति प्राचीन कहा जाता है। सर जान मार्शल ने अपनी "मोहज्जोदड़ो और हड़प्पा ऐण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन" नामक पुस्तक में लिखा है कि मोहज्जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त लिंग और योनि के चिन्हों के आधार पर शैवधर्म का इतिहास पाँच-हजार ई० पूर्व अथवा ताम्रपाषाण युग का अथवा उससे भी पूर्व का अनुमानित किया गया है। लिंग और योनि की पूजा शिव और शक्ति के प्रतीक रूप में हजारों वर्ष पूर्व से भारत में होती आ रही है और आज भी यह उसी रूप में प्रचलित है।

शैवधर्म की प्राचीनता का संकेत वेदों में भी मिलता है। ऋग्वेद में शिवलिंग की उपासना का उल्लेख है। शिव के विभिन्न नाम यथा रुद्र और पशुपति आदि का चारों वेदों में उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में रुद्र और त्र्यम्बक का संकेत भी कुछ ऋचाओं में मिलता है। इसके अतिरिक्त सामवेद, शुक्ल-यजुर्वेद आदि में रुद्र की प्रार्थना में कहे गये छन्दों का विवरण मिलता है। इन विवरणों के आधार पर यह अनुमानित किया जाता है कि शैवदर्शन शैव धर्म के रूप में वैदिक काल से भी पहले था।

शास्त्रीय दृष्टि से इसका विकास दैवी और मानवीय दो परम्पराओं के अन्तर्गत हुआ। दैवी परम्परा के अन्तर्गत तीन मानसपुत्र—त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ का नाम आता है और मानवीय परम्परा के अन्तर्गत वसुगुप्त, सोमानन्द, भट्ट कल्लट, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त, लक्ष्मणगुप्त और क्षेमराज इत्यादि का नाम आता है। जिनके पश्चात् भी आज तक किसी न किसी रूप में यह परम्परा आज तक प्रचलित है।



* शोध छात्रा, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

परमार्थसार में संकलित सामग्री का सार

मन्जू शर्मा*

अभिनवगुप्त प्रणीत परमार्थ सार काश्मीर शैव-दर्शन का प्रवेशद्वार है। वस्तुतः सांख्य तथा वैष्णव दृष्टि से लिखे हुए प्राचीन ग्रन्थ का त्रिक दर्शन की दृष्टि से परिष्कार कर अपने सिद्धान्त के प्रचार के लिए महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इस आधार कारिका (शैव मुनि द्वारा प्रणीत, मलसिद्धान्त के प्रतिपादक) प्राचीन ग्रन्थ को अपनाया है।

परमार्थसार सारगर्भित, पक्षपातरहित ज्ञान से पूर्ण कुल सौ कारिकाओं में ग्रथित छोटा सा ग्रन्थ है जिसमें परमार्थसत्ता जीव जगत (छत्तीसतत्त्वों) त्रिविधमल, बन्धमोक्ष उपायों आदि का अत्यन्त सरल शब्दों में प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में अति विस्तृत रूप में श्रेष्ठ एवं मुक्त योगी का वर्णन भी उपलब्ध होता है।

परमेशिव ही एक मात्र परमार्थसत्ता है। वास्तव में जीव भी शिव रूप होता है। इसलिए 'शिव' और 'जीव' में पारमार्थिक रूप से अभेद है। जगत् के विषय में सिद्ध है कि परमेशिव से समुत्पन्न हुआ चराचर जगत् मिथ्या नहीं।

परमेश्वर अपनी स्वपूर्णता और शुद्धसंवित्तरूपता को विस्मृत कर संकुचित होता हुआ संकुचित वस्तु को

ही अपना आप समझने के कारण त्रिविधमलों (आणवमल, कर्ममल तथा मायीय आदि) से युक्त होता है। अतः आत्मा के वास्तविक रूप से अनभिज्ञ हेतु जीव पुनः-पुनः मरण जीवन को प्राप्त कर बद्ध अथवा संसारी कहलाता है।

इस बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए शैव-दर्शन में चार उपायों (अनुपाय शाम्भोपाय शाक्तोपाय तथा आणवोपाय) का उल्लेख है जिसकी सहायता से अज्ञानरूपी गंठी कट जाती है और शिव अपने चिदानन्द रूप में प्रकट होने लगता है। यही चार साधन मोक्ष का परमकल्याण द्वार हैं।

इस प्रकार मोक्ष को प्रदान करने वाले मार्ग का अभ्यास करने वाले मुमुक्षु को यदि तात्त्विक स्वरूप नाथ प्राप्त न भी हो तो उसकी साधना निष्फल नहीं होती। मृत्यु के पश्चात् वह स्वर्गादि दिव्य लोकों का गमन कर बहुत समय तक आनन्द भोगता है। दिव्य भोगों को भोगने के पश्चात् योगाभ्यास के योग्य मनुष्य देह वर्ग पाकर योगाभ्यास करके अलौकिक मोक्ष रूप अमृत को प्राप्त करता है, जिसके परिणामस्वरूप वह पुनः विश्व में लौट कर नहीं आता। मृत्यु-जीवन के चक्र से छूट जाता है।



* शोध छात्रा, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

कश्मीर शैव दर्शन में बन्धन

मन्जु शर्मा *

इन्द्रधनुषी रंगों से सुनहरी हुई यह सृष्टि एक रंगमञ्च है, जो परमशिव की लीला का विलास मात्र है और जीव इस रंगमंच का एक अधना सा कलाकार। यह कलाकार रंगमंच पर आते ही यह भूल जाता है कि वह उस परमशिव का ही अंश है और इस रंगमंच रूपी सांसारिक कार्यकलापों में इस प्रकार तादात्म्य कर लेता है कि वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर जीवरूप धारण कर सुख-दुःख का अनुभव करने लगता है। अर्थात् पति से पशु अवस्था को प्राप्त करता है। यही दशा दर्शनशास्त्र में बन्धन की दशा कही गई है। और बन्धन के मूल का नाश होने पर जीव मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है। भारतीय दर्शनशास्त्र की विविध धास्त्रों के विविध दर्शनशास्त्रियों ने न्यूनाधिक अन्तर के साथ सांसारिक बन्धन से सम्बद्ध अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं।

कश्मीर शैव दर्शन में बन्धन का कारण अज्ञान माना गया है और अज्ञान के नाश हो जाने की दशा को मुक्ति की दशा कहा गया है।

इह तावत् समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते।

अज्ञानं संसृतेर्मूलं ज्ञानं मोक्षैककारणम् ॥

तं. आं. 1.22

अज्ञान को इस दर्शन में ज्ञान का अभाव नहीं माना जाता। यहाँ ज्ञान के संकोच को अज्ञान कहा गया है :

अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसङ्गतः।

स हि लोष्टादिकेऽप्यस्ति न च तस्यास्ति संसृतिः ॥

अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम्।

ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम्।

तं. आ. 1.25, 26 है।

आत्मदेव वस्तुतः अपरिमित और शुद्ध प्रकाश रूप है, परन्तु संकुचित ज्ञान के कारण जीव दशा में परिमित और जड़ वस्तु को अर्थात् शरीर आदि को ही अपना आप समझ बैठता है और अपनी ज्ञान और क्रिया शक्ति की असीमता को त्याग कर माया के प्रभाव से अभिव्यक्त हुये जीव भाव को प्राप्त कर आत्मदेव अपने को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् न समझता हुआ अल्पज्ञ और अल्पशक्ति ही समझ बैठता है। इस अज्ञान की ही यहाँ पारिभाषिकी संज्ञा 'मल' कही गयी है। मल तीन प्रकार का होता है आणवमल, मायीय मल और कर्ममल।

विभु शिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से संकुचित होकर अपने को अणु समझने लगता है अर्थात् आत्मदेव का पति दशा से पशु दशा को प्राप्त करना ही आणवमल कहलाता है। और जब अपने को संकुचित प्रमाता समझता हुआ जीव चिन्मय वेद्यों को अपने से सर्वथा भिन्न समझने लगता है तब यह भेद बुद्धि मायीय मल के नाम से जानी जाती है। जब प्रमाता और प्रमेय में भेद बुद्धि उत्पन्न होती है तो ऐसी दशा में जीव किन्हीं वेद्यों को शुभ मानकर उनके सम्पादन की ओर अग्रसर होता है और किन्हीं वेद्यों को अशुभ मानकर उनसे हट जाता है तब इस शुभाशुभ विकल्प को कर्ममल के नाम से अभिहित किया जाता है।

इस प्रकार परमशिव स्वयं सृष्टि के विकास के लिये लीलावश अपने चिदानन्द संविद् रूप का अवगुण्ठन कर जीव रूप को धारण करते हैं और इस दशा में जीव अपने प्रकाश रूप को भूल कर शरीरादि को ही अपना रूप समझता हुआ बन्धन को प्राप्त करता



* शोध छात्रा, हजुरी बाग, तालाब तिल्लो, बोहड़ी (जम्मू व कश्मीर)।

क्षेमराज का स्पन्द दर्शन में योगदान

डॉ० रेणू गुप्ता *

स्पन्द शब्द का मूल धातु 'स्पदि' है, जिसका अर्थ 'किञ्चित् चलन' अर्थात् सूक्ष्म अहं विमर्शात्मक स्फुरण है। साधारणरूप में 'स्फुरणा' या 'स्पन्द' शब्द से कम्पन का अर्थ लिया जाता है, परन्तु यह अहंविमर्शात्मक स्पन्द स्थूल अथवा गांधी के द्वारा हिलाए गए वृक्ष इत्यादि का कम्पन जैसा नहीं समझना चाहिए, अपितु इसका रूप चिदधन भगवान् की बाह्य विश्वात्मक रूप में स्वतन्त्र शक्ति प्रसार की ओर संकल्पात्मक उन्मुक्ता मात्र ही समझना चाहिए। इस संकल्पात्मक उन्मुक्ता को सूत्रकार ने 'उन्मेष-निमेष' शब्द से अभिव्यक्त किया है। यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि यहां पर "उन्मेष-निमेष" का अर्थ उन्मेष और निमेष (आंखों को बन्द करना या खोलना) नहीं है, अपितु विज्ञान रूप अनुत्तरतत्त्व की वह एक ही संकल्पात्मक गतिमयता है, जिसका स्वरूप मात्र "अहंप्रत्यवमर्श" ही है। शक्ति का रूप सदा उदित है, अतः उस का न तो कभी उन्मेष अर्थात् उदय या विकास अथवा अस्त या संकोच ही होता है।

वास्तव में स्पन्दशक्ति का स्वरूप ही उच्छलनात्मक है। भाव यह है कि वह युगपत् ही स्वरूप का विकास और संकोच करती है। फलतः यह शक्ति क्रियाशीलता युगपत् ही द्विमुखी अर्थात् अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी भी है, परन्तु यह सारी क्रियात्मकता संकल्पात्मक ही है।

स्पन्दशास्त्र में स्पन्दशक्ति के सामान्य और विशेष ये दो रूप बतलाये गये हैं। इनमें सामान्य स्पन्द वह है, जिसमें पूर्णाहम् का सतत शुद्ध प्रत्यवमर्श होता रहता है। समस्त जगत् स्वात्मा भिन्न रूप में भासित होता है। अतः यह तुर्य अथवा तुर्यातीत अवस्था का आत्म-विस्फुरण है। परन्तु विशेष अथवा गुण स्पन्द वह है जो सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों के प्रभावयुक्त नील-सुखादि (बाह्य-अन्तः) पदार्थों के विषय में ज्ञान प्रवाह है। अतः यह अशुद्ध कर्तृता वाला होता है। क्योंकि इसकी स्थिति में शरीरादि अनात्म वस्तुओं के विषय में आत्माभिमान होता है। इस स्पन्द का भी आधार सामान्यस्पन्द ही होता है।



शोध-पत्र (RESEARCH PAPERS)

काश्मीर शैव दर्शन तथा सूफी दर्शन

डॉ. वेद कुमारी घई*

शिव पूजा भारत के विभिन्न भागों में प्राचीन काल से प्रचलित रही है तथा शैवदर्शन के भी कई रूप उपलब्ध होते हैं जैसे तमिल प्रदेश का सिद्धान्त शैव दर्शन, आन्ध्रप्रदेश का पाशुपत शैव-दर्शन, कर्नाटक का वीर शैव दर्शन तथा कश्मीर का पराद्वैत शैव दर्शन जिसे त्रिकदर्शन तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन भी कहा जाता है। प्राचीन भारत की चिन्तनपरम्परा में कई दार्शनिक विचारधारायें पनपती रही हैं और इस भिन्नता की उपादेयता को काश्मीर शैव दर्शन के महान् विद्वान् अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्वीकारा है :-

चित्तभेदान्मनुष्याणां शास्त्रभेदो वरानने ।
व्याधिभेदाद्यथा भेदो भेषजानां महौजसाम् ॥
यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति ।
तथैकं हेतुमालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत् ॥

जैसे भिन्न-भिन्न रोगों के उपचार के लिए भिन्न-भिन्न औषधियों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मनुष्यों की चित्तवृत्तियों तथा चिन्तन स्तर की भिन्नता के कारण शास्त्र भिन्न-भिन्न हैं।

न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त इन छः दर्शनों में से वेदान्त दर्शन काश्मीर शैवदर्शन के काफी निकट है क्योंकि दोनों का लक्ष्य अद्वैत है। फिर भी दोनों में यह भेद है कि जहाँ, अद्वैत वेदान्त में ज्ञानयोग की प्रधानता है वहाँ काश्मीर शैव दर्शन में ज्ञानयोग तथा क्रियायोग का समन्वय है। अद्वैत वेदान्त

का ब्रह्म ज्ञान मात्र है, वह स्वयं निष्क्रिय है। क्रिया माया का कार्य है तथा माया से उपहित होने पर ही ईश्वर क्रियावान् होता है। काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार ईश्वर में स्वातन्त्र्य है, इसलिए उस में कर्तृत्व है- चित्तिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ॥ (प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र १) माया महेश्वर की ही शक्ति है अतः वह भी सत्य है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या है परन्तु काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार विश्व शिव का ही रूप है अतः सत्य है। (स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। वही सूत्र २.) अद्वैत वेदान्त के अनुसार विद्या के द्वारा अविद्या के निरस्त होने पर मोक्ष मिलता है तथा मोक्ष में विश्व निरस्त हो जाता है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार अज्ञान दो प्रकार का है बौद्ध अज्ञान और पौरुष अज्ञान। विद्या से बौद्ध अज्ञान निरस्त होता है। पौरुष अज्ञान फिर भी शेष रहता है। वह पौरुष अज्ञान सिद्ध गुरु के द्वारा शक्तिपात से महेश्वर के अनुग्रह से दूर होता है। मोक्ष का अर्थ है अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान या प्रत्यभिज्ञा। मोक्षावस्था में विश्व शिवचेतना के रूप में प्रतीत होता है।

काश्मीर शैवदर्शन की साधनापद्धति अपेक्षाकृत सरल है क्योंकि इस साधना मार्ग में जात-पात, उच्च नीच बाल युवा वृद्ध का कोई भेद भाव नहीं। कोई भी व्यक्ति इस साधना के लिए दीक्षित हो सकता है। साधक के लिए उत्तम गुरु का चुनना अनिवार्य है। इस साधना

*पूर्व प्रोफेसर, जम्मू विश्वविद्यालय

मार्ग में कई प्रकार की साधनाओं का समावेश है जैसे वेदविहित उपासनापद्धति मन्त्रयोग का भी समावेश है तथा तान्त्रिक उपासना पद्धति का अक्षरयोग भी समाविष्ट है। साधक अपने लिए उपयुक्त किसी भी मार्ग को लेकर साधना करता हुआ निजशिव भाव को पहचान सकता है। तन्त्रालोक में यह भी कहा है कि जैसे नारियल ऊपर से कठोरता रखते हुए अपने भीतर सार छुपाये रहता है वैसे ही साधक चाहे तो लोकव्यवहार वैदिक मार्ग के अनुसार, पूजापाठ आदि बाह्य साधना शैवमार्ग के अनुसार और योग आदि अन्तः साधना कौल मार्ग के अनुसार कर सकता है। काश्मीर शैवदर्शन सम्मत साधनामार्ग में भक्ति को प्रधानता दी गई है। जिन के पास भक्ति रूपी लक्ष्मी है उन्हें और कुछ भी नहीं चाहिए (भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्। शिवस्तो.....20.11.) परन्तु यह भक्ति भी परमशिव की कृपा से ही प्राप्त होती है (तस्यैव हि प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्। यया यान्ति परां सिद्धिं तद्भावगतमानसाः॥ मा०वि)

भगवदनुग्रह शैवी साधना में जिन उपायों द्वारा अर्जित किया जाता है वे मुख्य रूप से चार हैं— आणवोपाय, शाक्तोपाय, शाम्भवोपाय और अनुपाय।

आणवोपाय में इन्द्रियाँ मन और प्राण की साधना की जाती है। इसे क्रियायोग तथा भेदोपाय भी कहा जाता है। साधक प्रमाता प्रमेय और प्रमाण इन तीनों को भावना के द्वारा एकरूपता में देखने का प्रयास करता है। ध्वनि योग भी इसी उपाय के अन्तर्गत है जिस में नाद सुनाई देता है। विभिन्न स्तरों पर साधक को निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द, जगदानन्द, चिदानन्द की अनुभूति होती है। इस योगसिद्धि में कई लक्षण जैसे उछलना, काँपना, निद्रा आदि प्रकट होते हैं।

शाक्तोपाय को ज्ञानयोग भी कहते हैं। इस उपाय में मन्त्रशक्ति का भी उपयोग होता है जिससे साधक को

प्रातिभ ज्ञान हो जाता है। इसे भेदाभेद उपाय भी कहते हैं। इस योग में शुद्ध विकल्पज्ञान के अभ्यास से अशुद्धविकल्पों (जैसे मैं शरीर हूँ, मैं अल्पज्ञ हूँ) को नष्ट किया जाता है। मैं शुद्ध संवित् हूँ। मैं परिपूर्ण ईश्वर हूँ। मैं ही यह सारा विश्व हूँ।" इस प्रकार के बुद्धिजन्य शुद्ध विकल्पों के ज्ञान का अभ्यास किया जाता है

शाम्भवोपाय उच्च कोटि के साधकों के लिए है। इसे इच्छायोग भी कहते हैं। इस योग में शरीर मन, बुद्धि, प्राण द्वारा कोई भी साधना नहीं की जाती। न किसी विषय का ग्रहण करते हुए, न किसी विषय का परित्याग करते हुए वायु रहित स्थल पर जलते दीपक की ज्योति की तरह अचल स्थिति में स्वयं अपने में ही ठहरे रहने का अभ्यास किया जाता है।

अनुपाय में तो साधक को इच्छा शक्ति का भी प्रयोग नहीं करना पड़ता। गुरु के द्वारा यह बताने मात्र से ही कि तुम तो स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशमान हो, वह शिष्य गुरु के अनुग्रह से शिव भाव के समावेश की अनुभूति कर लेता है। इसे आनन्दयोग भी कहते हैं।

शैवदर्शन की अन्य विशेषताओं की चर्चा में बिना जाये केवल उपरिवर्णित कुछ एक विशेषताओं की तुलना सूफी दर्शन से की जा रही है जो कश्मीर की भूमि में बहुत लोकप्रिय रहा है।

आठवीं सदी में अरब ईरान में शुरू हुआ सूफी मत बारहवीं सदी तक पूरी तरह विकसित हो चुका था। पनाह लेने के लिए अथवा इस्लाम के प्रचार के लिए जब ये सूफी सन्त कश्मीर की धरती पर आये तो यहाँ की शैव धर्म में संस्कारित जनता को शुरू-शुरू में तो इस्लामी आधार पर पनपा सूफी मत अजीब लगा परन्तु धीरे-धीरे संस्कृतियों का समन्वय प्रारम्भ हुआ जिस में संत कवयित्री लल्लदयद का और उन के समकालीन अनुज कवि शेख नूर-उद-दीन नूरानी का जिन्हें नुन्द

ऋषि नाम से भी जाना जाता है महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उसके बाद तो शैवदर्शन और सूफी दर्शन अनुप्राणित संत कवियों की लम्बी परम्परा चलती रही जिन में ख्वाजा हबीबुल्लाह नौशहरवी, कलन्दर शाह, अब्दुल अहद नाज़िम, परमानन्द, शमस फकीर अज़ीज दरवेश, मिर्ज़ा काक, कृष्ण राजदान लछकाक, मोहीउद्दीन मस्कीन, ख्वाजा अकस रहमान डार, अहद जरगर, लक्ष्मणजू बुलबुल ठाकुर जू मनवूट, हलधर जू कोकरु, दयाराम, नीलकण्ठ शर्मा, जिन्दा कौल, मीर गुलाम रसूल नाज़की आदि उल्लेखनीय हैं।

काश्मीर शैव दर्शन की तरह सूफी दर्शन भी एक परम सत्ता को स्वीकार करता है जिस में सभी विश्व ओत प्रोत है। सूफीमत ने इस्लाम से प्रेरणा ली है और वे अल्लाह रसूल कुरान फरिश्ते तथा कयामत को मानते हैं पर उन का इमान सीमित न होकर असीमित हो गया है क्योंकि वे मानते हैं कि अल्लाह की अनुकम्पा से ही फरिश्ते रसूल कयामत सभी ओत प्रोत हैं। मजार दरगाह समाधि बुत आदि की पूजा भी उसी प्रियतम की पूजा है। अल्लाह की शक्ति असीम अथाह और अनन्त है। वही कर्ता भर्ता हर्ता सभी कुछ है। सृष्टि के कण कण में वही बोल रहा है। यह अवधारणा काश्मीर शैव दर्शन की अवधारणा “स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति” के अत्यन्त समीप है। कवि शशिशेखर द्वारा अनूदित लल्लेश्वरी के निम्नलिखित वाख में यही भाव है -

देव फिर पूजा कैसी आज?

तू ही पवन गगन भूतल तू, तू ही दिन तू ही रात
तू ही पवन अर्घ्य पुष्प जल चन्दन सब कुछ तू ही तात
व्यर्थ आरती! व्यर्थ अर्चना की यह भ्रम मय बात

व्यर्थ यह पूजा के सब साज

देव फिर पूजा कैसी आज ?

यही भाव नुन्द ऋषि के नूरनामा के निम्नश्लोक

में है- जो वहाँ है वही यहाँ भी मौजूद है। वही हर जगह व्याप्त है। वही प्यादा और रथ की सवारी भी वही। सारे विश्व में वही गुप्त रूप से व्याप्त है। (नूरनामा पृ० 156) वह मेरे पास है, मैं उस के पास हूँ। मैंने उसकी संगति में सुख पाया है। मैंने व्यर्थ ही उसे दूर-दूर खोजा। अपने ही देश अर्थात् अपने आप में ही मेरा प्रियतम मुझे मिल गया। (वही पृ० 155)।

शैवदर्शन की साधना में गुरु का महत्त्व स्वीकारा गया है। सूफीदर्शन में भी पीरों की प्रतिष्ठा है। सालिक अर्थात् साधक के लिए किसी मुरशिद अर्थात् गुरु का होना परमावश्यक है। इबादत करने वाले आबिद को जब शरीअत में पूरा सन्तोष नहीं मिलता तो वह प्रियतम की राह की जानकारी के लिए किसी जानकार मुरशिद के पास पहुँचता है। उस की इच्छा को परख कर मुरशिद उसे मुरीद अर्थात् शिष्य बना लेता है और उस में खुदा का इश्क भर देता है। मुरीद शरीअत का पालन करने के बाद तरीकत अर्थात् आत्मशुद्धि और अध्यात्म के क्षेत्र में जा पहुँचता है और सालिक से मारिफ अर्थात् साधक से ज्ञानी हो जाता है। ज्ञानोदय से हकीकत के क्षेत्र में पहुँच कर प्रियतम से जा मिलता है। वस्ल (मिलन) से फना की दशा में जाकर उसे अनुभूति होती है कि वह प्रियतम से अलग नहीं। वह द्वन्द्व से मुक्त होकर हक हो जाता है। यह स्थितियाँ शाम्भवोपाय या इच्छा योग, शाक्तोपाय या ज्ञानयोग की झलक देती हैं। मारिफत की दशा में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसका मूल आधार प्रज्ञा है इस की तुलना प्रत्यभिज्ञा से की जा सकती है। इल्म और मारिफत दोनों अलग-अलग हैं। इल्म को अपरा विद्या और मारिफत को पराविद्या कह सकते हैं। इस प्रकार धर्मशास्त्रों पर आधारित शरीअत कर्मकाण्ड है, तरीकत आत्मशुद्धि का पथ उपासना काण्ड है, मारिफत ज्ञान काण्ड है और हकीकत प्रत्यभिज्ञान है।

इस्लाम की तरह सूफीमत में भी तौहीद अर्थात्

एक ईश्वर को मानने के अतिरिक्त सलात (नमाज़) ज़कात (दान) सौम (व्रत) और हज (तीर्थयात्रा) का विधान है। तौहीद साध्य है शेष चार साधन चतुष्टय हैं। सूफी सन्त इस साधन चतुष्टय को स्वीकारते हैं पर उन्होंने अपने ढंग से इन का विस्तार कर लिया है। सलात में पाँच बार की नमाज़ को स्वीकारते हुए उन का मानना है कि अल्लाह की आराधना किसी और समय भी की जा सकती है। सूफियों में दया, त्याग के भाव से ज़कात की प्रतिष्ठा हुई। ज़र जमीन जन की मोहत्रयी को छोड़ कर उन्होंने अपने आप को भी अल्लाह को अर्पित कर दिया। सौम या रोज़ा में सूफियों को उपवास का प्रमाण मिला और उन्होंने व्रत और आहारशुद्धि को ही मानसिक शुद्धि का साधन माना और प्रायः व्रत रखने लगे। हज को उन्होंने स्वीकारा पर उस के साथ दरगाहों मजारों की यात्रा को भी प्रतिष्ठा दी। सलात में इस्लाम का शुभ और मोमिन का मंगल मनाया जाता है, सूफी पूरे विश्व के लिए शुभकामना करते हैं। सलात में भी आसन की विशेष पद्धति होती है। सूफी जिक्र या जप की स्वतन्त्र पद्धति स्वीकार करते हैं जिस में विभिन्न प्रकार से जप किया जा सकता है। जिक्र के दो भाग हैं जिक्र जली और जिक्र खफी। पहले का सम्बन्ध वाणी से है, दूसरे का दृश्य से। जली स्तवन है, स्तोत्रगान की तरह और खफी योग है जिसे फिक्र भी कहते हैं। इस प्रकार एक ओर तो सूफी उठते बैठते प्रियतम का संकीर्तन करते हैं और दूसरी ओर आसन लगा कर हाथ में तसबीह (माला) लेकर जप करते हैं। जप से ही फिर ध्यान चिन्तन की ओर बढ़ते हुए मारिफत तक पहुँच जाते हैं। सूफी चित्तवृत्ति निरोध को मुजाहदा कहते हैं। उनका जिहाद मुशरिक या काफिर से नहीं अपनी नफ्स

(अस्तित्व) से होता है।

काश्मीर शैव दर्शन की शैवी साधना के आणवोपाय में क्रियायोग की प्रधानता है तथा ध्वनियोग भी इसके अन्तर्गत है जिस की सिद्धि में उछलना, कम्पन, निद्रा, मूर्छा आदि लक्षण भी प्रकट होते हैं। आणवोपाय को भेदोपाय भी कहा है कि इसमें साधक प्रमाता मेय प्रमाण को भावना द्वारा एकरूपता में देखने का न करता है।

सूफीमत में समा का बहुत महत्त्व है। समा एक प्रकार का संकीर्तन है सहज भाव की अभिव्यक्ति है। जब कच्चा मस्ती में गाते हुए अपनी करामात दिखाते हैं तो वे खुद को उस मस्ती में भूल जाते हैं। देखने सुनने वाले भी भावोद्रेक से झूमने लगते हैं। कभी-2 झूमते-झूमते गिर जाते हैं, उन्हें हाल (मस्ती) आ जाता है और इलहाम होने लगता है कि वह परमात्मा तो अपने में ही है कबीर के शब्दों में :-

‘मुझ को कहाँ ढूँढै बन्दे
मैं तो तेरे पास में
तथा

हम सब माँहि सकल हम माँहि।
हम थेँ और दूसरा नाहीं॥
तीन लोक में हमारा पसारा।
आवागमन सब खेल हमारा।

जब जीव अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है तो उसमें तथा परमसत्ता में अभेद स्थापित होता है यही सिद्धान्त काश्मीर शैव दर्शन की प्रमुख विशेषता है जो सूफीदर्शन में भी उपलब्ध होता है। इसी कारण ये दोनों दर्शन समन्वित रूप में कश्मीर में पनपते रहे।



Śaktipata (Descent of Divine Grace)

Prof. Mann Singh*

The Tantric texts generally prescribe the following ten steps for a sadhaka in order to achieve his spiritual goal :

- (i) Purgation of all kinds of defilements (**Mala-nivṛtti**) ;
- (ii) Infusion of divine Grace (**Śaktipata**) and initiation (**dīkṣā**) ;
- (iii) Annihilation of spiritual ignorance (**Paurusa ajñāna**) ;
- (iv) Obtaining spiritual wisdom through comprehension of Āgamic texts from the spiritual teacher (**guru**) ;
- (v) The rise of intellectual knowledge (**bauddha jñāna**) ;
- (vi) Simultaneous cessation of intellectual ignorance (**bauddha Ajñāna**) ;
- (vii) Attainment of liberation in embodied condition (**jivana-mukti**) ;
- (viii) Destruction of ripened fruits of past actions (**prārabdha karmans**) through enjoyment (**bhoga**) ;
- (ix) The rise of spiritual knowledge (**Paurusa Ajñāna**) simultaneously with the falling off of psycho-physical body (**deha**) ; and
- (x) Achievement of the spiritual goal

Sivatva¹

The Supreme Lord (Parama Siva), during his self-projection as the universe in exercise of his divine freedom, imposes upon Himself limitation (**sankoca**), veils Himself through His Power of Mahamaya with the **ānava mala** and has ego-experience in self-projected forms of objects, represented by body, etc., which is technically called the **Paurusa a Jñāna** (spiritual ignorance). As soon as he covers Himself with the anava-mala, two distinct types of (**cidanus**) appear with one of the aspects of their nature, knowledge (**Jñāna**) and act (**kriya**). The (**cidanus**) with the act aspect of their nature affected by the (**ānava-mala**) which deprives them of their freedom of act are known as **vijñānakalas**, disembodied limited beings retaining consciousness (**Jñāna**) of their real nature but bereft of their power of act. The other cidanus in whom the (**anava-mala**) obscures the knowledge (**jñāna**) aspect of their nature and not the act aspect undergo further involution and assume appropriate kind of psycho-physical body-apparatus (**deha-yantra**). They are oblivious of their pure nature and are embodied beings (**sakalas**). The second type of (**cidanus**) undergo involution by māyā's universal power of obscuration (**tirodhāna**) which

* Ex. Head, Sanskrit Deptt., Kurukshetra University, Kurukshetra

Siva),
 erse in
 erse upon
 himself
 with the
 in self-
 ated by
 led the
 ce). As
 anava-
 appear
 nature,
). The
 nature
 eprives
 own as
 beings
 eir real
 ct. The
 -mala)
 pect of
 ndergo
 opriate
 paratus
 of their
 beings
 danus)
 iversal
 which

enwraps them with the result that their pure nature is obscured. This veiling power of Maya is technically known as the (**Māyīya-mala**) defilement of Māyā. Māyā brings into operation five forces of obscuration, **kañcukas (teguments)**, viz. **kala** (power of doership), **vidya** (limited power of knowledge), **raga** (limited power of interest), **kāla** (confinement in time) and **niyati** (confinement in space). The **kārmic** seeds which are the subtle residual impressions of the past **karmans** performed by the **cidanus** (individual beings) in embodied form and are embedded in Māyā, cling to the individual **cidanu** and give rise to a desire to perform action (**karmavāsanā**), which in turn, provokes him to associate himself with an appropriate kind of psych-physical organism. It is **kārmic mala** (defilement of actions).² The different levels of creation, constituted by thirty-six elements, are broadly classified under two categories, viz. Pure Order (**suddhodhva**) and Impure Order (**asuddhodhva**), the distinction between them lying in that the former is characterized by the operation of Mahamāyā (Divine Power) while the latter belongs to the realm of Māyā Power, an aspect of Māha-Māyā in impure form. In the state of bondage, an individual being is covered by the above three kinds of defilements (**malas**) and his intellect (**citta**) with different layers of impurities, called **kaśāyas** or **kleśās** and residual impressions of **karmans**. Except the **ānava** defilement - the fundamental

defilement arising out of the supreme Lord's self-imposed limitation, all other defilements existing on different levels of Māyā in Impure order can be eradicated by an individual through his personal efforts involving discipline (**sādhana**) ; and such orthodox systems of Indian philosophy as Sankhya, Yoga, Advaita Vedanta, etc. prescribe the eightfold Yoga for such a purgation : five kinds of abstentions (**Yama**), observations (**niyama**), post ures (**asana**), regulation of breath (**Pranayama**), withdrawal of senseorgans from worldly objects (**pratyāharā**), fixation of attention on one object (**dhāranā**), meditation (**dhyāna**) and concentration (**Samādhi**).³ Such disciplines destroy the intellectual ignorance (**bauddha ajñāna**) ; but the spiritual ignorance (**Pauruṣa ajñāna**) arising out of the **anava** defilement still persists. It does not have intellect **citta** or **buddhi** as its seat, which comes into existence only much later, and is thus non-intellectual in nature. The Śaiva Ācāryas, therefore, hold that the spiritual ignorance is destroyed by **Śaktipāta** (descent of Divine Grace), which also eradicates the **ānava-mala** simultaneously. Abhinavagupta, in his **Tantrasāra**, presents three views regarding the **Śaktipāta** :

- (i) Bondage (**saṁsāra**) has ignorance as its root. The rise of the right knowledge results in the **Śaktipāta**.
- (ii) The **Śaktipāta** occurs at the balance of two opposing **karmans**.

(iii) The **Śaktipāta** occurs at the ripening of defilements (**mala-paripāka**).⁴

These views are refuted by Abhinavagupta as they may be acceptable to the dualists but not to the non-dualist system, **Parameśvarādvayavāda** ; for according to it, the Supreme Lord, during His sport of veiling His nature, assumes the limited nature of **pudgala** ; and when the obscuration of the pure nature disappears and He shines in His pristine pure nature, the **anu** becomes the recipient of Divine Grace (**Śaktipāta**) and attains his pure nature either by following a sequence or immediately. The Supreme Lord disperses His Divine Grace out of His Free will, not depending on any condition whatsoever.⁵

According to the **Tantrāloka**,⁶ the **Śaktipāta** is, in essence, the descent of the highest light on the limited soul. It is bereft of all limitations and is essentially of pure consciousness (**saṃvidāikasvabhāva**) ; but the **Śaktipāta** of lower nature is conditional with the limitations of enjoyment (**bhoga**).

Abhinavagupta classifies the **Śaktipāta** into nine kinds in accordance with intensity, first under three categories, namely most intense (**tīvra**), intense (**madhya**) and mild (**manda**) and then under three classes each, viz. most intense (**tīvra**), intense (**madhya**) and mild (**manda**), thus suggesting that the kinds of the **Śaktipāta** depend on the kinds of the recipient **Sādhaka**. The quantitative difference in the intensity of the **Śaktipāta**

received by an individual **Sadhaka** is indicative of his progress on the spiritual path: the more intense is the **Saktipata**, the less endeavour it would entail on the part of the **Sādhaka** to achieve the supreme goal, **Śivatva**. The **Sādhakās** who receive the **Śaktipāta** in the most intense form (**tivratīvra**) shed away their body immediately on account of annihilation of the **kārmic** seeds and attain **Śivatva** with the influx of the Divine Grace. The **Sādhakas** who receive the **Śaktipāta** in a relatively less intense form (**madhyatīvra**) continue to exist in embodied form on account of the **prārabdha karmans**, though the **sañcita** (accumulated) and **sañcīyamāna** (being accumulated) are immediately destroyed. In such cases, ignorance is not completely annihilated; only the sheath (**āvaraṇa**) of ignorance destroyed while projection (**viksepa**) remains intact. Such **Sādhakas** develop a unique devotion. (**bhakti**) to the Supreme Lord and in some cases attain **mantrasiddhi** (control over the potency of **mantrās**), in some attain complete knowledge of any object perceived and sometimes are capable to know the real import of the tenets of **Sastras**, generally hidden to ordinary beings. The infusion of the **Śaktipāta** in a relatively mild form (**mandatīvra**) results in an intense desire in the **Sadhaka** to approach a **sadguru** for spiritual guidance. A **sadguru** is the teacher who, firmly established in the Divine Essence, leads a **Sadhaka** to the supreme

goal
has n
lead
spiri

Tan
tive
Śak

1.
2.
3.
4.
5.
6.
7.
8.
9.
10.

goal ; and an **a sadguru**, the person who has not achieved the supreme goal and cannot lead one to it but is conversant with the spiritual discipline⁷.

According to Abhinavagupta's **Tantrāloka**⁸ and **Tantrāsāra**⁹, the quantitative difference in the intensity of the **Śaktipāta** is discernible from the point of

view of the **sādhakas** and not from that of the supreme Lord as the **anugraha** or **Śaktipāta** flows eternally from Him but differs quantitatively from **Sādhaka** to **Sādhaka** in proportion to the capacity of the individual being, depending on the degree of perfection achieved by him.¹⁰



-
1. Deba Brata Sen Sharma, *Studies in Tantra Yoga* (Karnal : Natraj Publishing House, 1985), p.67
 2. *ibid.*, pp. 50-51.
 3. *Patanjali, Yogasutra*, II.29.55, III. 1-3
 4. *Tantrasara* (ed. Mm. Mukunda Rama Sastri, Delhi : Bani Prakashan, 1983), *Ahnika XI*, pp. 115 - 117.
 5. *ibid.*, *Ahnika XI*, pp. 118 - 119.
 6. *Tantraloka*, *Ahnika XIII*.
 7. *Tantrasara*, *Ahnika XI*, pp. 119 - 122.
 8. *Tantraloka*, *Ahnika XIII*.
 9. *Tantrasara*, *Ahnika XI*.
 10. Deba Brata Sen Sharma, *op. cit.*, pp. 74 - 81

Śiva Sūtra and Mental Environment

Prof. Koshalya Walli*

Environment is very popular word in this era in whole globe. Environment does not address to nature alone. This word is associated with every aspect of human life-physical, mental, psychological, social, political, cultural and the like.

Śiva Sūtras written by Ācārya Vasugupta happens to be the first written work in the arena of Kashmir 'Śaivism. Kashmir' Śaivism deals with the transformation of mental and spiritual aspect of man's life.

Man of today is confronted with a number of challenges in his day to day life. He is not satisfied with food, shelter and clothing alone. His inner urge is to know-who he is? 'Śiva Sūtra starts with its Ist Sūtra as "चैतन्यम् आत्मा" i.e. experience of knowledge and action and the realization of freedom in the performance of action based on knowledge. Basically man in reality is soul. "I am soul" - one with this wisdom, understanding and intense and unshaking faith in his self practices till the dictum goes deep in his head and heart. He feels absolutely free in the area of knowledge and action. Such a person of bodha-wisdom is able to utter-"चैतन्यम् आत्मा"

The second Sūtra says- "ज्ञानं बन्धः", i.e. limited knowledge is the reason of bondage. An ignorant human being considers gross body as Ātman-soul. Three types of malas

(ignorance) veil the head and heart of a person- Āṇava mala, kārma Māla and Māyīya mala tremendously affect the human lives.

Śiva in the form of complete freedom arranges the world drama by His Own Free Will. In the sequence of descention, the Divine Power is established in the gross human form, followed by the development of his own nature. Thus starts the sequence of ascention, the play of life and mind. In the human being arises an urge to realize his divine nature. To realize his divine nature, an opportunity is offered to him to develop and transform his own mental horizon.

Limited knowledge is based on words. Words are formed into the amalgamation of letters (varnas). Varnas-letters are called mātrkas. Mātrkās, are the basis of limited knowledge. Due to śāmbhava approach, a progressive human being by meditation on Śiva-tattva attains the entrance into the consciousness of Parama Śiva. This process is the process of understanding, grasp and awareness without any "impediment".

The fifth Sūtra of the 'Śāmbhavopāya is "उद्यमो भैरवः।" In the present context the meaning of the word Udyama is the manifestation of the awareness of Śiva. By resorting to 'Śāmbhavopāya, the perfect awareness of perfect 'I' of 'Śiva comes into

* Prof. Ex.Dean, Head, Skt.Deptt. J.U. Jammu.

existence all of a sudden automatically. Those who turn inwards in all its completeness, their all thought currents are done away with. According to Mālinivijaya, of one without thoughts, awakened by his Guru, the identification with the perfect 'I' is known as 'Śāmbhāva'. Another name of 'Śāmbhavopaya' is 'Abhedopaya'. 'Śāmbhavopaya' is famous by the name of Avikalapaka upāya or Nirvikalpakopaya. When one neither accepts nor rejects anything but is established in his own self, then one is seated in 'Śāmbhavayoga'.

When the consciousness of Śiva is incessantly experienced by a person, then the whole world is experienced to be development of the wheel of the power of soul. The development of the complete the Wheel of POWER is felt. Under the given environment, no one feels the world different from 'Śiva'. In fact such feeling-experience does not remain. The identification of oneness with the whole creation is experienced. Undoubtedly, the experience of the Turiya-Avasthā the IVth state of the Internal Divine soul is gone through resulting in bliss. The differences and discrimination in Jagrata (Awakened position), svapna (dream state). Suṣṭi state (deep sleep) are felt. From the viewpoint of spirituality he alone is awake who realises the Self. One, an object of uncontrollable thoughts and imaginations, wanders basically in dream state/dreamland, even if lives in so called awakened situation. One having no deeprooted vision in Eternal Truth is in the state of sleep. Those who are not receptive to

Great Consciousness/Awareness, are in the state of sleep. Those who are aware of the Supreme Consciousness in awakening, dream, deep sleep situations, they can control the senses and are real enjoyers. One with true knowledge of Self is possessed of wonderful ordinary power. The external and internal environments experienced by a yogi look like a form of his own consciousness. Gradually overcoming the limitations, he is able to find out the source of every thing. Such a yogi is fully confident that his soul is Śiva Himself, the soul of the universe. He is an object of all the experiences. Thus the awareness of such a yogi incessantly works without any impediment. A yogi with his will power is able to create anything. The amalgamation of various elements, segregation of collective elements, integrating the different elements with regard to space and time, whatever power is required, the yogi is capable to develop that power.

But such a yogi is not satisfied with limited powers. He attains the awareness of the whole world into the power of the knowledge - pure knowledge. He is master of the complete wheel of the complete power. His great objective is not only realization of his own self but the self of 'Śiva'. He feels the whole universe as a form of Śiva. Being one with the source of the Divine power, he realises- 'I am perfect Awareness'. That awareness is the source of all the mantras.

In short, 'Śāmbhavopaya' does not demand special effort or discipline for self realization. When we neither accept nor reject, when natural awareness exists devoid of all

thoughts, then and there is practical self realization.

For the progress of mental environment, Śiva Sutra offers second approach for the realization of Self and Parama Śiva. The deep understanding and awareness of the identification with Parama, Śiva is hidden in the Mantra. Thus identification with Parama-Sattā (Supreme Divinity) transforms citta-mind-into a mantra. A devote's mind with deep awareness establishes identification with the god established in mantra, thus becomes mantra himself. A mind desirous to unite with Parama Śiva is able to become a Mantra. A natural and automatic effort unites the mantra-owned devotee with the god of a mantra.

Śri-Tantra sadbhāva reads :- All the mantras. comprise letters (varnas). The same are equipped with strength. Strength is known as Mātrkā, and that is known as the soul of Śiva.¹

All the Mantras have their soul in letters. Letters are the forms of 'Śakti. 'Śakti is Mātrkā. Mātrkā is the form of 'Śiva. Mantra is said to be the chief Śāktopaya- 'Śakta-means.

The fourth sutra of the IInd prakaranam called Śāktopāya Prakaraṇam has two readings-pāthas :- 1. "गर्भे चित्तविकासोऽ विशिष्ट विद्यास्वप्नः" adopted by Kṣemaraja. He interprets the word गर्भ (Garbha) as primal

ignorance known also as Māhamāya. The common masses have the satisfaction of mind in the limited inferior and impure knowledge that confuses them like a complete dream full of sense of difference.

The second reading offered by the commentator Bhaskaracarya is² गर्भे चित्तविकासो विशिष्टोऽविद्यास्वप्नः। When the mind is receptive to the light of the supreme, the result is the highest development of the mind. As a result thereof, the primal ignorance (Avidya) disappears like a dream. "गर्भे" according to Bhaskara means the bliss of the light of Supreme Consciousness.

A yogi with true knowledge being full of awareness is established in 'Śiva.³ The true knowledge of the true self nourishes a practitioner (Sādhaka) like food that nourishes the eater⁴. True knowledge of the self is essential for the complete development of the self as food is essential for body. After the attainment of true knowledge when a practitioner does not remain alert, aware and conscious, then the thought-current again arises and overcomes a person.⁴ Bhaskara's interpretation differs from Ksemaraja. Bhaskara interprets the word vidyā as sāmānya vidyā common knowledge, possessed by common human society dissolves, on the attainment of the true knowledge, the previous possession of delusive knowledge is taken for a dream.

1. सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्यात्मकाः प्रिये। शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका ॥ Tantrasadbhāva

2. सद्विद्यासमुत्थाने बोधगगने शिवावस्थाचरति। (शिवसूत्रम् -II.4)

3. ज्ञानम् अन्नम्।

4. विद्यासंहारे तदुत्थस्वप्नदर्शनम्- 'Śivasūtram-II.10

ya. The
of mind
nowledge
eam full

by the
वृत्तविकासो
receptive
It is the
a result
Avidya)
rding to
light of

eing full
The true
ishes a
e that
ge of the
lopment
y. After
when a
ware and
t again
askara's
maraja.
idyā as
vledge,
ety dis-
he true
sion of
eam.

hāva

Āṇava-upāya is the third upāya- means-
to attain the unity with Parama 'Śiva.
According to this approach, the individual
self is mind.⁵ In this context ātma-soul-means,
Individual soul. Intellect, I sense and mind
comprise the citta of an individual soul. An
individual soul is called Anu. The knowledge
born of the citta of such a being is the reason
of bondage.⁶ Maya is non-discrimination
between the tattvas.⁷ Non discrimination
between Kālā) limited capacity to do the
work), rāga (attachment confined to a
particular object), kāla (limited time), vidya
(limited knowledge), niyati (limitation, by
cause effect relationship) is Māyā.

According to Ksemaraja, in gross, subtle
and causal body, dissolution has to be
contemplated upon from the earth upto Śiva⁸.
Kālāgni Rudra is the deity full of the burning
light-tejas. His place is said to be the toe of
the right foot. A meditator meditates that
Kālāgni is arising from the said toe and burns
the entire body.

By conquering delusive māyā, one
achieves the command over the inherent

knowledge of Reality⁹. After having attained
the inherent knowledge of reality, a man of
practice (sādhaka) becomes ceaselessly, alert
and always awakened¹⁰. The world as
visualised by the sādhaka, manifests his own
light. In other words, the world is the ray of
inner light. This world is drama and soul is a
dancer, for a man of self realization.¹¹ He
displays several roles in this world but all his
outer actions are based on the inner essential
nature that is hidden within. Due to the
supreme spiritual intellect, there is the
realisation of the inner light of the self.
Because of the emergence of the LIGHT OF
SOUL or the light of the Self, freedom is
attained.¹² According to Ksemaraja, in the
case of a man of practice, freedom in the form
of the inherent knowledge and activity can
control the whole universe.¹³ Just as a man of
inherent knowledge and activity can
completely freely manifest himself in his body
he can do it elsewhere also.¹⁴ But the
Sādhaka should not be indifferent towards the
freedom attained with hard efforts. He should
be fully alert and conscious of the active light
of consciousness, the source of the world. He

5. "आत्मा चित्तम्", Ś.S.III.1

6. ज्ञानं बन्धः III.2 S.S.

7. कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया III.3

8. महाभूतात्मकं, पुर्यष्टकरूपं, समनान्तं यत् स्थूलं, सूक्ष्मं, परं शरीरं तत्र याः पृथिव्यादिशिवान्ततन्त्ररूपाः कला भागाः, तासां
संहारः, स्वकारणे लयभावनया दाहादिचित्तनयुक्त्या वा ध्यातव्यः।

9. मोहजयादनन्ता भोगात्सहजन विद्योदयः। Ś.S.III.7

10. लब्ध्वायि शुद्धविद्यां तदैक्यव्याप्तौ जागरूकः विश्वमस्यस्वदीधितिकल्पं स्फुरति। Ś.S.Commentary of Ksemarāja
III-4

11. Ś.S.III.9-नर्तक आत्मा।

12. Ś.S.III.13-सिद्धः स्वतन्त्रभावः।

13. सहजज्ञत्व-कर्तृत्वात्मकम् अशेषविश्ववशीकारि स्वातन्त्र्यम् ॥ Ś.S.III.13 Commentary

14. Ś.S.III.14-यत्र देहे योगिनः स्वाभाव्यक्तिर्जाता तत्र यथा, तथा अन्यत्र सर्वत्र सदावहितस्य सा भवति।

15. बीजावधानम् Ś.S.III.15

should be fully attentive to the active light of consciousness, the source of the world-the Parāśakti.¹⁵ Such a sādḥaka always remembers Parāśakti, is lost in her and drowned in the ocean of nectar. The creative consciousness helps a practitioner to produce forms of objects as per his desire.¹⁶

A sādḥaka in possession of sahaja vidya i.e. inherent natural knowledge of reality will not have rebirth.¹⁷ The 'Śiva sūtra exhorts a person to saturate the waking, sleep and dream

states with the fourth state of Atmic consciousness, like that uninterrupted flow of oil in the light burning with the help of cotton and oil.¹⁸ Such a human being always alert and conscious of the sahaja vidyā or inhering knowledge of reality, feels that everything in the universe expresses the same universal consciousness. Such Sādḥakas feel and experience that the whole universe or every thing in the universe is the expression of the same universal consciousness.



16. स्वमात्रानिमणिमापादयति ॥ Ś.S.III.17

17. विद्याऽविनाशे जन्मविनाशः ॥ Ś.S.III.18

18. त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ॥ Ś.S.III.20

19. प्राणसमाचारे समदर्शनम् ॥ Ś.S.III.22

scri
myt
nar
on s
ahea
or d
anc
rela
trad
Kṣe
rock
inte
the
neit
whi
inse
just
late
acco
Bein
of th
nor
give

his
who
high
imp
Śiva
deve
thro

I. K

Atmic
d flow
help of
always
dyā or
s that
e same
as feel
rse or
ession

Śiva-Sūtra

Dr. B.N. Pandit*

Śiva-sūtra is one of the most important scriptural sources of Kashmir Śaivism. The mythological account of its revelation, as narrated by Kṣema-rāja, is definitely based on some devotional imagination, proceeding ahead from irrational thinking of some devotee or devotees of Śiva. No one among all the ancient masters of Kashmir Śaivism has related such account in any of his works. Such tradition was propagated effectively by Kṣemaraja in his Śivasūtra-vimarśini. The rock called "Śaṅkarpal" at present, is just an integral part and parcel of the rocky base of the mountain, consisted of limestone. It is neither a granite rock nor even a slate-rock, which could have been used for any inscription on it. Its present name, mentioned just above, may have been given to it quite lately after the spread of the mythological account about it, recorded by Kṣemarāja. Being an integral part and parcel of the base of the mountain, it can neither be pulled-up nor can be moved down. Thus the account given, is not at all any historical fact. /

It is highly probable that Lord Śiva in his divine form appeared before Vasugupta, who was practising yoga at some spot in the higher reaches of the Mahādeva mountain, and imparted to him orally all the four¹ chapters of Śivasūtra. He, in turn, having most probably developed some wonderful mental capacity through practice of yoga, could retain the

whole work in his memory. Having duly practised such Trika-yoga of Śaivism, as taught in the Śūtras of Śiva, he discovered the special yoga practice, resulting in the realization of the **spanda-principle** as the finer essence of I-consciousness (not ego) and realized such I-consciousness as being pure, omniscient, omnipotent, infinite and all powerful in its character. Such yoga, resulted in the realization of **Spanda**, the vibratory character of consciousness, was imparted by Vasugupta to his main disciple, Bhaṭṭa Kallata, who transmitted it ahead through a line of direct disciples, till it reached Bhaṭṭa Bhāskara, the author of Śivasūtra-vārtika, sometime about the early twelfth century. Bhaṭṭa Bhāskara was the seventh one in the direct line of the masters of **Spanda-yoga** and the seventh teacher imparting the philosophy discussed in Śiva-sūtra. Being an important yogin in the line of the direct disciples of Vasugupta, he must be accepted as the master knowing the correct significance of Śivasūtra and **Spande-yoga**, taught there in. In his **Vārtika** he expressed the exactly correct nature of the **spanda-principle** and the method of having its direct realization; but under the influence of Kali (कलि), the present day master of all the activities in our globe, he did not earn popularity which was due to him and his work—"Śivasūtra-vārtika, which did not become popular in the tradition of the lines

1. Kṣema-rāja does not know anything about the fourth chapter of Śiva-sūtra.

of teachers and students of Kashmir Śaivism, especially during the post Abhinavagupta period.

Most of the pet disciples of Abhinavagupta were solely interested in the practices of **Trika-yoga** and in tasting the ecstasy of the realization of their blissful and pure I-consciousness; so much so that they did not usually find any interest in writing books and commentaries on any important works. Kṣemarāja was the only one among his disciples who had a keen interest in becoming famous as a scholar and a writer. He possessed a sharp intelligence and was highly well read. But it appears that he could not tolerate the popularity of Bhaṭṭa Kallaṭa as a prominent master of Kashmir Śaivism. Such a thing is evident from his disrespectful remarks about Bhaṭṭa Kallaṭa. Such attitude on his part must not have been digested by many ardent practitioners. Such mutual controversy continued ahead. Kali, the master of the present age, adopted such a policy in accordance with which Bhaṭṭa Bhāskara, treading the literary path of Bhaṭṭa Kallaṭa, started to lose popularity among the rank and file of Śaiva thinkers and Kṣemarāja became popular. Such position is still alive, even though the interpretations of Śivasūtra by Kṣemarāja are mostly based on his own imagination and do not follow the ancient tradition. It is a wonder that he does not know anything about the fourth chapter of Śivasūtra, while Abhinavagupta quotes such a sūtra as that of Śiva, which does not exist in any of the three well known chapters of the work, and must have been taken out of its fourth

chapter¹. Besides, he quotes passages from Tattvartha-cintāmani of Bhaṭṭa Kallaṭa, without mentioning their authorship. It appears that Abhinavagupta may not have appreciated such ways of Kṣemarāja and it may be on such account that he has not mentioned his name as a disciple or as a scholar in any of his works, while praising many of them in his **Tantrāloka**. Such incorrect tradition, started by Kṣemarāja and followed by nearly all the later writers on Kashmir-Śaivism, pushed the traditional interpretation

of Śiva-sūtra, come down through a line of direct disciples from Vasugupta to Bhaṭṭa Bhāskara, his seventh degree successor, to oblivion, so much so, that it is not being even now studied by many students and scholars of Kashmir Śaivism; nor does it bear any elucidative commentary. Such a thing, though being very unfortunate, has not received the attention of any scholar in the past, nor any researcher in the present, though the work throws a clear light on the exactly correct principles and doctrines of Kashmir Śaivism, based on actual experiences of the practitioners of the Trika system of yoga.

The present writer of these pages worked hard on the study of Śivasūtra-Vārtika of Bhaṭṭa Bhāskara and filled up his personal copy of the work with many marginal notes and quotations from other works for the purpose of bringing out a fresh edition of such important work on the Śaivism of Kashmir, explained thoroughly on the basis of other authentic works on the subject. His such personal copy of the work was borrowed from him by a scholar for the purpose of its thorough study. He intended to suggest some more

clarifications to be added to it. But alas! such copy of the work was stolen by some unworthy person, as such people used to visit his **āshrama** and to handle freely the books lying in his library. Two thorough searches were made in such library, but the book concerned could not be traced out.

The rough notes, written by him in a note book and aimed at writing a detailed commentary on **Sivasūtra-Vārtika**, had already been borrowed by some other gentleman, who is now living elsewhere. That gentleman can, however, be traced out even now. The writer of all such notes did not mind their being borrowed by such people, simply because he had already used them in writing a bilingual detailed commentary in Sanskrit and Hindi under the title "**Śivasūtra-Vivṛti**" explaining the **sūtras** in the light of the **Vārtikas** on it by Bhaṭṭa Bhāskara, while utilizing all such notes and quotations. Such a work, if published, could have been used as a text book for M.A. in Sanskrit and Philosophy examinations.

Such manuscript of **Śivasūtra-Vivṛti** remained lying with its writer for a few years. It was lying with some publisher for about five years. He had shown an intention to publish it, but could not do so, as it would have meant a huge investment of money and a very slow return of it. After about two more years it was borrowed by the trust of Swami Laksman Joo, with a promise for a quick publication. About three years have passed and it has not yet gone to press. The Trust appears to be more interested in giving priority to the publication of the **Śivasūtra-Vimarsīni** of Ksemarāja, translated into English by Sri

Swami Ji. The writer of such **Śivasūtra-vivṛti**; which throws clear light on the views of Bhaṭṭa Bhāskara with regard to the principles and doctrines of Kashmir Śaivism, as expressed by Lord Śiva in the **Sūtra** and as imparted by Him to Vasugupta apprehends that the work concerned may not get an early chance to be published in the near future; as Kali, the master of the present historical age on our earth, may not be liking it to be published and presented to the human world for the present. Why should have otherwise the traditionally correct views of Bhaṭṭa Bhāskara remained all along in neglect and oblivion for all these centuries and how should otherwise, have the imaginary and incorrect views of Ksemarāja gained worldwide popularity? All the happenings in the universe, being part and parcel of the universal dramatic activities of Lord Śiva, must have a mutual variety as their essential character; otherwise these would lose all their charm and would become cent percent dreary in character. Since such acts and scenes must have a constant change in their succession, we can safely build a hope that a time shall come when **Śivasūtra** shall be studied, understood and practised by the devotees of the Lord, in accordance with the views expressed by Bhaṭṭa Bhāskara in his **Vārtika** on the **sūtras** of Śiva, the correct essence of the scripture concerned having been received by him through the line of direct disciples of Vasugupta, he being the seventh master in the line.



चिति शक्ति

प्रो० महेश शर्मा

काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन में भगवती चिति शक्ति को विमर्श चित्, चैतन्य, स्वरसोदिता, परावाक्, स्वातन्त्र्य, परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य (ऐश्वर्य शक्ति), कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सारा, हृदय, स्पन्द-इत्यादि शब्दों द्वारा आगमों में अभिहित किया गया है।¹ प्रत्यवमर्शात्मा² होने से जड़ से विलक्षण है³ यह महासत्ता है और देश, काल, कारण से अस्पर्शित है।⁴ यह विश्वात्मा परमेश्वर की स्वात्म-प्रतिष्ठा होने से ही 'हृदय' कही जाती है। अभाव में व्याप्त, सत्ता, भवत्ता, भवनकर्तृता, नित्या एवं स्फुरणकर्तृता है।⁵ इसी को संवित्, परासंवित्, पराचिति, पराशक्ति, परा, परमेश्वरी, देवी, महादेवी, भैरवी, काली, कालकर्षिणी, कालसङ्कर्षिणी, महामातृका, परमसत्ता, परादेवी मातृसद्भाव, अनुत्तरा, कुल, कौलिकी, कुण्डलिनी, महाकुण्डलिनी, मालिनी आदि नामों से स्मरण किया जाता है। यही भगवती परा प्रतिभा, ललिता, स्वात्मा, वामेश्वरी, व्योमवामेश्वरी कही जाती है।

भगवती निराकार एवं साकार-उभयरूपा एवं उससे भी परे हैं।⁶ जगत् में जिस किसी वस्तु की भी सत्ता है, वह इन्हीं में, इनके कारण एवं इनके ही द्वारा है।⁷ अतः इनके किसी निश्चित रूप, रङ्ग, आकार की इति श्री करना सर्वथा असम्भव है। योग वासिष्ठरामायण में कहा गया है कि ब्रह्म सर्वशक्तिसमन्वित है। ऐसी कोई वस्तु अथवा भाव-अभावरूप सत्ता नहीं है, जिसका अस्तित्व इस पर निर्भर न हो। शरीरों में चिच्छक्ति, वायुओं में स्पन्दशक्ति, पथरादि में जड़ शक्ति, जलों में द्रव शक्ति, अग्नि में तेज शक्ति, आकाश में शून्य शक्ति, भव स्थित भावशक्ति, दश दिशाओं में सर्वशक्ति, विनाशशीलों में नाशशक्ति, शोकमयों में शोकशक्ति, मोदमयों में आनन्द शक्ति, भटों में वीर्यशक्ति, सर्गों में सर्गशक्ति, कल्पान्त में सर्वशक्तिरूप में विद्यमान है। जैसे फल, पुष्प, लता, पत्र, शाखा, विट मूलवान् वृक्ष बीज में स्थित होता है, वैसे ही यह ब्रह्म में स्थित

1. "एष एव च विमर्शः- चित्, चैतन्यं, स्वरसोदिता, परावाक्, स्वतन्त्र्यं, परमात्मनो मुख्यमैश्वर्यं, कर्तृत्वं, स्फुरत्ता, सारा, हृदयं, स्पन्दः इत्यादि-शब्दैरागमेषूद्घोष्यते- " परा० प्रा० पृ० 2
2. "चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता। स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥ " - ई० प्र० का०, 1/44
3. "आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रियाचितिकर्तृता। तात्पर्येणोदितस्तेन जडात्सहि विलक्षणः ॥ " - ई० प्र० का०, 1/43
4. "सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी। सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः " - ई० प्र० का०, 1/45
5. "स्फुरत्ता स्फुरणकर्तृता अभावाप्रतियोगिनी अभावव्यापिनी सत्ता भवत्ता भवनकर्तृता नित्या देशकालास्पर्शासैव प्रत्यवमर्शात्मा चित्क्रिया-शक्तिः। सा विश्वात्मनः परमेश्वरस्य स्वात्मप्रतिष्ठारूपा हृदयमिति तत्र तत्रागमे निगद्यते " - ई० प्र० का० वृ०, 1/45
6. क) "स्फुरति यत्तवस्वरूपमनुत्तरं यदपरं च जगन्मयमम्बिके।
उभयमेतदनुस्मरतां सतामभयदे! वरदे! परदेवते!" - र० पं० द०, श्लो० 14
ख) "संकोचमिच्छसि यदा गिरिजे तदानीं, वाक्तरक्योस्त्वमसि भूमिरनामरूपा
यदा विकासमुपयासि यदा तदानीं, त्वन्नामरूपगणनाः सुकरी भवन्ति ॥ पञ्चस्तवी
ग) "नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्" - दु० स०, 1/64
घ) "विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं च - इति त्रिकादिदर्शनविदः" - प्र० ह० टी०, सू० 8
ङ) "परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी" - दु० स०, 1/82
7. "यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाऽखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः स त्वं किं स्तूयसे तदा ॥ " - दु० स०, 1/83

* अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, वि.वि.जम्मू

है।¹ परात्रिंशिका में भी कहा गया है कि जैसे वट वृक्ष के बीज में अतिसूक्ष्म (शक्ति) रूप में महान् वृक्ष अपने फूल-फल-पत्र-शाखा-प्रशाखादि की विशिष्टताओं को समाहित किये रहता है, वैसे ही 'हृदय' (चितिशक्ति) में चराचर जगत् बीजरूप में विद्यमान रहता है।² दुर्गासप्तशती में इन्हें महादेवी, शिवा, प्रकृति, भद्रा, रौद्रा, नित्या, गौरी, धात्री, ज्योत्स्नामयी, सुख-स्वरूपा, इन्दुरूपिणी, कल्याणी, वृद्धि, सिद्धि, नैऋति, लक्ष्मी, शर्वाणी, दुर्गा, दुर्गपारा, सारा, सर्वकारिणी, ख्याति, कृष्णा, धूम्रा, अतिसौम्या, अतिरौद्रा, कृति, विष्णुमाया, चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, शक्ति तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, मातृ, भ्रान्ति, इन्द्रिय एवं सभी प्राणियों की आधिष्ठात्री आदि शक्तियों के रूप में स्मरण किया गया है और चितिरूप से समस्त जगत् में व्याप्त बतलाया गया है।³

ईशावास्योपनिषद् में भी ईशा शक्ति'' से समस्त जगत् को व्याप्त कहा गया है।⁴

राजानक क्षेमराज कहते हैं कि भगवती चिति विश्वात्मिका और विश्वोत्तीर्णा भी है। परमेश्वर का हृदय (स्वभाव, विमर्श) है तथा परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी आदि शक्ति वर्ग के रूप में स्फुरित होने वाली संवित् है।⁵ विमर्श से तात्पर्य विश्वाकार, विश्वप्रकाश और विश्वसंहार रूप में अकृत्रिम 'अहम्' का विस्फुरण है।⁶ यह विमर्श के कारण ही ईश्वर का ऐश्वर्य होता है, अन्यथा एक जड़ में और उसमें कोई अन्तर न रहता।⁷ क्योंकि प्रकाश तो जड़ घट-पट-दर्पणादि का भी होता है, परन्तु उनमें विमर्श नहीं होता।⁸

राजानक क्षेमराज अनुसार भगवती चिति स्वात्मदेवता है। यही सर्वत्र कारण है। स्वयं ही अपनी (शिवता, ब्रह्मता) प्राप्ति का सहज उपाय तथा महाफल

1. "सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यं पूर्णमव्ययम्। न तदस्ति न तस्मिन्यद्विद्यते विततात्मनि। सर्वशक्तिर्हि भगवान्यैव तस्मै हि रोचते। शक्तिं तामेव विततां प्रकाशयति सर्वगः ॥ चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेष्वभिदृश्यते। स्पन्दशक्तिश्च वातेषु जड़शक्तिस्तथोपले ॥ द्रवशक्तिस्तथाम्भः सु तेजः शक्तिस्तथोऽनले। शून्यशक्तिस्तथा आकाशे भावशक्तिर्भवस्थितो ॥ ब्रह्मण सर्वशक्तिर्हि दृश्यते दशदिग्गता। नाशक्तिर्विनाशेषु शोकशक्तिश्च शोकेषु ॥ आनन्द शक्तिर्मुदिते वीर्यशक्तिस्तथा भटे। सर्गेषु सर्गशक्तिश्च कल्पान्ते सर्वशक्तिता। फलपुष्पलता पत्रशाखाविटमूलवान्। वृक्षबीजेयथावृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥"
यो०वा०रा०, 3/100/5 तः ॥
2. क) "यथान्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ॥"
ख) "हृदयं बीजमेतस्यां सारं यत्तत्परं महः।
वटबीजे यथा वृक्षस्तथात्र निहितं जगत् ॥"
3. द्रष्टव्य दुर्गा सप्तशती, पञ्चम अध्याय, श्लोक 9 तः 80
4. "ईशावास्यमिदं, सर्वं यत्किञ्च जगत्प्रां जगत्"-
ईशा०उप०मं०।
5. "विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां हृदयं परमेशितुः।
परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्तीं संवितं नुमः ॥"
परा०प्रा०, श्लो०।
6. "इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः, विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमा
हम् इति विस्फुरणम्"-परा०प्रा०, पृ० 1, 2
7. "यदि निर्विमर्शः स्यात्, अनीश्वरो जड़श्च प्रसज्येत-"
परा०प्रा०, पृ० 2
8. क) स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥
ख) "अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्वं तदत्यक्षद् घटादिवत् ॥"
तं०आ०, 3/100

उपेय, ब्रह्मत्व, शिवत्व मोक्ष) भी है।¹ गीता² एवं उपनिषद् भी ऐसा ही कहती है।³ सिद्ध सोमानन्द⁴ एवं उत्पलदेवाचार्य भी ऐसा ही स्पष्ट संकेत करते हैं।⁵ भगवती चिति ही सदाशिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्व अथवा प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय वा नील सुख देह प्राणादि रूप विश्व को स्वेच्छा से अपने को आधार बनाकर अपने स्वातन्त्र्य से अभिन्न होने पर भी नगरदर्पणवत् भिन्न की भाँति प्रकट करती है।⁶ वह इसके लिये किसी की अपेक्षा नहीं रखती और न ही किसी के अधीन है।⁷ शिव से लेकर सकल पर्यन्त सप्त प्रमाताओं और शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के वर्गों से ओतप्रोत यह विश्व पराशक्ति के ही विश्व-सिसृक्षा के समय ग्राह्य-ग्राहकों के अनुरूप संकुचित हो जाने से नाना प्रकार का है।⁸ अतः विश्व भी उनके प्रकाशैकात्म्य से ही अवस्थित रहता है।⁹

देश, काल, आकारादि इसी से अवभासित होते हैं, अतः यह उनसे अनवच्छिन्न है।¹⁰ प्रमाण भी अभिन्नव अर्थ प्रकाशनरूप होने से स्वतन्त्र, अपरिच्छिन्न, स्वतः सिद्ध तथा स्वप्रकाशरूपा परा भगवती को सिद्ध करने में न तो उपयुक्त ही है और न ही उसका अस्तित्व इनके बिना सम्भव है।¹¹ त्रिकसार में भी कहा गया है- 'जैसे अपने सिर की छाया को अपने पाँव से लाँघना सम्भव नहीं, वैसे ही बैन्दवी कला' (विमर्श शक्ति) का पार पाना सर्वथा असम्भव है।¹² इस स्वात्मदेवता चिति के प्रसर से ही जगत् उन्मिषित होता है (अस्तित्व में आता है), स्थित होता है एवं प्रसरण निवृत्त होने पर निमिषित (संहत) हो जाता है। इसमें सब का स्वानुभव साक्षी है।¹³ यह व्यापक, नित्योदित, परिपूर्णरूपा है।¹⁴ भगवती चिति अनुत्तर विमर्शमयी एवं शिवभट्टारक से अभिन्न

1. "तत्र स्वात्मदेवताया एव सर्वत्र कारणत्वं सुखोपायप्राप्यत्वं महाफलत्वं च" - प्र०ह० टी०, पृ० 44
2. "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥" - भ०गी०, 6/5
3. "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैवात्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥" - कठ०उप० 1/2/22
4. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृतचिद्विभुः। अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः - शिवः शि० दृ० 1/2
5. त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान्। इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानञ्जयेज्जनः॥ - शि० स्तो० 1/7
6. क) "चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः"- प्र० ह०, सू० 1
ख) "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति"- तदेव, 2
ग) "विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति"- प्र०ह०टी०, सू० 2
7. "स्वेच्छया न तु ब्रह्मादिवत् अन्येच्छया तयैव च, न तु उपादानाद्यपेक्षया एवं हि प्रागुक्तस्वातन्त्र्येहान्या चित्तमेव न घटेत्" तदेव
8. "तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्"- प्र०ह०सू०, 3
9. "उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम् इत्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् उक्तम्"- प्र०ह०टी०, सू० 2
10. क) "चितिः इति एकवचन देशकालाद्यनवच्छिन्नताम् अभिदधत् समस्तभेदवादानाम् अवास्तवतां व्यनक्ति"- प्र०ह०टी०सू० 1
ख) "अत एव देशकालाकारा एतत्सुष्ठु एतदनुप्राणिताश्च नैतत्स्वरूपं भेतुमलम्"- प्र० ह०टी० सू० 1
11. "ततोऽस्याःस्वतन्त्रापरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपायाः सिद्धौ अभिनवार्थप्रकाशनरूपं न प्रमाणवरकमुपयुक्तम् उपपन्नं वा"- प्र०ह०टी०, सू० 1
12. "तदुक्तं त्रिकसारे- 'स्वपदा स्वशिरछायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात्तथैवं बैन्दवी कला॥'"
13. "अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगत् उन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति- इति स्वानुभव एव अत्र साक्षी"- प्र०ह०टी०सू० 1
14. "व्यापक-नित्योदित- परिपूर्णरूपा इयम्"-तदेव

त होते
अभिनव
, स्वतः
करने में
व इनके
'जैसे
सम्भव
का पार
चित के
में आता
निमित्त
साक्षी
भगवती
अभिन

पृ० 44

०, 6/5

1/2/22

० 1/2

० 1/7

, सू० 1

देव, 2

सू० 2

''तदेव

सू०, 3

, सू० 2

टी०सू० 1

० सू० 1

हंटी०,

टी०सू० 1

है।¹ शिवदृष्टि में कहा गया है कि शिव और शक्ति में कभी भेद नहीं होता, प्रत्युत् वहि और उष्णता जल और शीतलता की तरह पूर्णाभेद है।² श्रीमृत्युञ्जय भट्टारक में भी शिव-शक्ति की स्वाभाविक अभेदता अग्नि-ऊष्मा, रवि-रश्मि की भाँति मानी गई है तथा सम्पूर्ण जगत् की भी उसे कारणात्मिका कहा गया है।³ श्रीमत्स्वच्छन्द तन्त्र में कहा गया है कि वह पराशक्ति सभी शक्तियों (देवियों) में विविध नाम एवं रूपों के रूप में विद्यमान है अर्थात् वही सब नाम-रूपों को धारण करती है, योगमाया से अपने यथार्थ स्वरूप को छिपाये रखती है। कुमारी है अर्थात् सर्वात्मैक्य से ज्ञाता के रूप में ही प्रकाशित होने से किसी का विषय न बनती अथवा विश्वलीला शील है। समस्त लोक की पोषिका एवं इच्छापूर्ति करने वाली मानी गई है।⁴

सभी प्रकार के देवों एवं शक्तियों की वही योनि (स्रोत) है अग्नि और सोमरूपा (प्रकाश-विमर्श, ज्ञान-क्रिया, प्राण-अपान) है तथा सभी की उत्पत्ति उसी से होती है।⁵ इसको पराविद्या भी कहा गया है, क्योंकि इससे बढ़कर (beyond) कुछ नहीं है। इसके अनुभव से सार्वज्ञ्यादि परम गुण (शक्तियाँ) उपलब्ध होते हैं,

परमात्मत्व का ज्ञान होता है, जो अनादि धर्म है। अनात्माभिमान (अज्ञान) छूट जाता है, परम परमकारण तेज अभिव्यक्त हो जाता है, जिससे शिवता की प्राप्ति होती है।⁶ श्रीवाजसनेया में कहा गया है कि वह शक्ति परा सूक्ष्मा, व्यापिनी, निर्मला और शिवा है। वह शक्ति समूह की जननी है और परानन्दा अमृतात्मिका है। वही महाघोरेश्वरी, चण्डा, सृष्टि और संहार करने वाली है। इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना-त्रिनाडियों में वहन करने वाली, सोम, सूर्य-वह्निरूपा, अतीत, वर्तमान, अनागतरूप बाह्य काल के उल्लासन और विलापन में सर्वथा समर्थ है।⁷

श्रीभट्टकल्लट ने कहा है कि यही भगवती संवित् 'प्राण' (जीवनी शक्ति) में परिणत होती है।⁸ राजानक क्षेमराज अनुसार जब स्फुरत्तासार, कर्तृतात्मा अनपायिनी, अद्वितीया ऐश्वर्यशक्ति, भगवती संवित् स्वरूप का गोपन कर संसार लीला करना चाहती है तो पशु दशा में प्राण-अपान-समान शक्ति दशाओं, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त भूमियों, देह-प्राण-पुण्यष्टक कलाओं के रूप में व्यामोह उत्पन्न करती है, तब यही व्यामोह जीव के जन्म-जन्मान्तर में संसरणरूप बन्धन का कारण बनता है। परन्तु जब मध्यधाम उल्लासरूप उदानशक्ति, और विश्व व्याप्तिसारा व्यानशक्ति,

1. "चितिः भगवती स्वतन्त्रा अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना"-तदेव
2. "न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ॥ शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत्"-
शि०दृ० 3/2,3,7
3. "सा ममेच्छा परा शक्तिरवियुक्ता स्वभावजा। वह्नेरुष्मेव विज्ञेया रश्मिरूपा रवेरिव ॥
सर्वस्य जगतो वापि सा शक्तिः कारणात्मिका ॥"- ने०तं०, 1/25-26
4. "सा देवी सर्वदेवीनां नामरूपैश्च तिष्ठति। योगमायाप्रतिच्छन्ना कुमारी लोकभाविनी ॥"- स्वच्छ० तं०, 10/727
5. "सा योनिः सर्वदेवानां शक्तीनां चाप्यनेकधा। अग्नीषोमात्मिका योनिस्तस्यां सर्वं प्रवर्तते ॥"- ने० तं०, 7/40
6. "तस्मात्सा तु परा विद्या यस्मादन्या न विद्यते। विन्दते ह्यत्र युगपत्सार्वज्ञ्यादिगुणान्परान् ॥ वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्वबोधना।
वर्जनापरमात्मत्वे तस्माद्विद्येति सोच्यते ॥ तत्रस्थो व्यञ्जयेतेजः परं परमकारणम्। परस्मिन्तेजसि व्यक्ते तत्रस्थः शिवतां ब्रजेत् ॥"-
स्वच्छ० तं०, 4/395, 96,97
7. श्रीवाजसनेयायाम्-
"या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा व्यापिनी निर्मला शिवा। शक्तिचक्रस्य जननी परानन्दामृतात्मिकामहाघोरेश्वरी चण्डा सृष्टिसंहारकारिका।
त्रिवर्हं त्रिविधं त्रिस्थं बलात्कालं प्रकर्षति ते ॥
8. श्रीभट्टकल्लटने प्राणाख्यनिमित्तदाढ्यम्-'प्राक् संवित् प्राणे परिणता'-इति तत्त्वार्थचिन्तामणायुक्तम्।

तुर्यदशारूपा और तुर्यातीतदशारूपा, आत्मव्याप्ति और शिवव्याप्तिरूपा¹ चिदानन्दघनसारा महामन्त्रवीर्यात्मिका, पूर्णाहन्ता को उन्मीलित करती है, तो सृष्टि-स्थिति-संहारकारी अपने संविदेवता चक्र के ईश्वरता² प्राप्त होने से देहादि अवस्था में भी पतिदशात्मा जीवन्मुक्ति लाभ होता है।³ शिवसूत्रों अनुसार शिवतुल्यता प्राप्त होती है।⁴

विश्वलीला के अवरोहण क्रम में भगवती चितिशक्ति ही संसार को वमन (प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयमय=शिवादि धरणि पर्यन्त=नील=सुख-देह-प्राणादि=जड़-चेतनरूप अन्तःस्थित विश्व को बाह्य अभिव्यक्त) करने एवं संसाररूपी वाम (विपरीत) आचार के कारण 'वामेश्वरी' संज्ञित होती है। तब वही जगत् विकास क्रम के प्रसरण में खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरी रूपों द्वारा क्रमशः सभी प्रमाता-अन्तःकरण-बहिष्करण-भाव स्वभावों (पदार्थधर्मों) के रूप में स्फुरित होती हैं।⁵

पशु दशा में, अपने परमार्थ चिद्गगनचरी स्वरूप को गोपित कर खेचरी चक्र द्वारा शून्यपद में विश्रान्त होकर किञ्चित् कर्तृत्व, किञ्चित् ज्ञातृत्व, अपूर्णत्व, अनित्यत्व और विशेष कारण-कार्यभावात्मक कला-विद्या-राग-काल और नियति स्वरूपाभिमान प्रमाता

समूह के रूप में गोचरी चक्र द्वारा, अभेद निश्चय-अभिमान-विकल्पनात्मक पारमार्थिक स्वरूप छिपाकर भेद निश्चय-अभिमान-विकल्पन प्रधान अन्तःकरण देवी के रूप में, दिक्चरी चक्र द्वारा अभेद प्रथात्मक पारमार्थिक स्वरूप गोपित कर भेद आलोचनादि प्रधान बहिष्करण देवतात्मा के रूप में और भूचरीचक्र द्वारा सार्वार्थ्य स्वरूप छिपाकर सर्वतः व्यवच्छिन्न आभास स्वभाव प्रमेयात्मा के रूप में पशु (जीव) हृदय व्यामोहित कर आसित होती है।⁶

पति दशा में, यही चिति शक्ति सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्वादि शक्त्यात्मक चिद्गगनचरी, अभेद निश्चयाद्यात्मा गोचरी, अभेदालोचनाद्यात्मा दिक्चरी और स्वाङ्ग कल्प अद्वयप्रथासार प्रमेयात्मा भूचरी के रूप में पति (शिव, मुक्त) हृदय विकसित कर स्फुरित होती है।⁷ विमुक्तकों में भट्ट दामोदर ने भी ऐसा ही मत अभिव्यक्त किया है।⁸

यह चित्प्रकाश से अभिन्न, नित्योदित, महामन्त्ररूप, पूर्णाहं-विमर्शमयी परावाक् शक्ति है, जो 'अ' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त अनन्त शक्तिचक्र को अपने गर्भ में धारण किये हुए है।



1. "यदा तु मध्यधामोल्लासाम् उदानशक्तिं, विश्वव्याप्तिं सारां च व्यानशक्तिं, तुर्यदशारूपां तुर्यातीतदशारूपां च चिदानन्दघनाम् उन्मीलयति, तदा देहाद्यवस्थायामपि पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिर्भवति"- प्र० ह० टी० सू० 12
2. "तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात्सदासर्वसर्गसंहारकारिनिजसंविदेवताचक्रेश्वरता प्राप्तिर्भवतीति शिवम्"- प्र० ह०, सू० 20
3. "चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदाढ्यजीवन्मुक्तिः"- प्र० ह० सू० 16
4. "शिवतुल्यो जायते"- शि० सू० 3/25
5. "चितिशक्तिरेव भगवती विश्ववमनात् संसारवामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती, खेचरी-गोचरी'-दिक्चरी-भूचरीरूपैः अशेषैः प्रमातृ-अन्तःकरण- बहिष्करण-भावस्वभावैः परिस्फुरन्ती"- प्र० ह० टी०, सू० 12
6. "पशुभूमिकायां शून्यपदविश्रान्ता किञ्चित्कर्तृवाद्यात्मक-कलादिशक्त्यात्मना खेचरी चक्रेण गोपितपारमार्थिकचिद्गगनचरी त्वस्वरूपेण चकासितः भेदनिश्चयाभिमान-विकल्पनप्रधानान्तःकरणदेवीरूपेण गोचरी चक्रेण गोपिताभेदनिश्चयाद्यात्मकपारमार्थिक स्वरूपेण प्रकाशते; भेदालोचनादिप्रधानबहिष्करणदेवतात्मना च दिक्चरीचक्रेण गोपिताभेदप्रथात्मक पारमार्थिक स्वरूपेण स्फुरति; सर्वतो व्यवच्छिन्नाभासस्वभावप्रमेयात्मना च भूचरीचक्रेण गोपितसार्वार्थ्यस्वरूपेण पशुहृदय-व्यामोहिना भाति।"- तदेव
7. "पतिभूमिकायां तु सर्वकर्तृत्वादिशक्त्यात्मकचिद्गगनचरीत्वेन, अभेदनिश्चयाद्यात्मना दिक्चरीत्वेन, स्वाङ्गकल्पाद्वयप्रथासारप्रमेयात्मना च भूचरीत्वेन पतिहृदयविकासिना स्फुरति"- तदेव
8. तथा च उक्तं सहजचमत्कारपरिजनिताकृतकादरेण भट्ट दामोदरेण विमुक्तकेषु- "पूर्णावच्छिन्नमात्रान्तर्बहिष्करणभावगाः। वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात्सुमुक्तिबन्धदाः"॥

शिवसूत्रों के साक्षात्कर्ता वसुगुप्त की सिद्धान्तचंद्रिकाकार वसुगुप्त से भिन्नता

शारदा गुप्ता*

काश्मीर शैवदर्शन के इतिहास में वसुगुप्त के शिवसूत्र इस दर्शन की आधारशिला के रूप में प्रख्यात हैं। शिवसूत्रों का ज्ञान आचार्य वसुगुप्त को साक्षात् शिव द्वारा प्राप्त हुआ था। शिवप्रोक्त होते हुए भी, प्रथम साक्षात्कर्ता होने के कारण इन सूत्रों का सम्बन्ध वसुगुप्त के साथ इतनी दृढ़ता से स्थिर हो गया है कि इन्हें वसुगुप्त के शिवसूत्रों के नाम से ही दर्शन-जगत् में जाना जाता है।

कश्मीर शैव दर्शन में आचार्य वसुगुप्त को एक 'युगपुरुष' के नाम से अभिहित किया जाता है क्योंकि इस दर्शन को निश्चित एवं नई दिशा प्रदान करने का श्रेय इन्हीं वसुगुप्ताचार्य को ही दिया जाता है। वसुगुप्ताचार्य ने ही इन दर्शन को 'स्पन्द दर्शन' के नाम से मान्यता दी। इन्हीं आचार्य ने कश्मीर-शैवदर्शन के तन्त्र पर आधारित द्वैतोन्मुखी धारा को एक नवीन यथार्थवादी अद्वैतोन्मुखी धार्मिक दृष्टि प्रदान की। अद्वैतवादी शैवदर्शन के प्रतिष्ठापक इन आचार्य वसुगुप्त का समय नवम शतक के पूर्वार्ध का स्वीकार किया जाता है तथा इन्हें शिवसूत्रों के अतिरिक्त स्पंदकारिका अथवा (स्पंदसूत्र) स्पंदामृत, वासवी टीका (भगवद्गीता टीका) तथा सिद्धान्तचंद्रिका --- इन ग्रन्थों का प्रणेता माना जाता है। कश्मीर शैवदर्शन के शोधकार्य के क्षेत्र में कार्यरत मनीषियों ने प्रायः सर्वसम्मति से वसुगुप्त को ही 'सिद्धान्तचंद्रिका' का कर्ता स्वीकार किया है। संभवतः यह नामसाम्य के आधार पर हुआ हो क्योंकि 'सिद्धान्तचंद्रिका' के अन्त में 'वसुगुप्तस्य इयं सिद्धान्तचंद्रिका समाप्ता' यह वचन

उपलब्ध होते हैं।

1. शिवसूत्रविमर्शिनी, हेमराज, पृ०-3, परमशिवेन स्वप्ने अनुगृह्य - महति शिलातले --- करस्पर्शनपरिवर्तनतः संवादीकृतस्वप्नां प्रत्यक्षीकृत --- समाससाद। संपदनिर्णय, हेमराज, पृ० 1-2, परमशिवावेशोन्मीलितमहिमा स्वप्नोपलब्धोपदेश, महादेवपर्वताद् ----- शिवसूत्राव्यासाद्य ----- । तथा पृ०-76, शंकरस्वप्नोपदेशसार शिलातलादवाप्य।

शिवसूत्रविवरण, सुखानंदजाडू, उपोद्धात, उपदिष्टानि सरहस्यानि-महादेवगिरौ विशालशिलायं यथा क्रमादिकतानि भगवता शंकरेण योगनिद्रायां ---- श्रीमान्वसुगुप्ताचार्य : समासादितानि।

शिवसूत्रपार्तिक, भास्कर, श्लोक 2-4, श्रीमान्महदेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा सिद्धादेशात्प्रादुरासन् शिवसूत्राणितस्य हि।

शिवसूत्रवार्तिक, वरदराज, श्लोक 2-4, स्वेच्छया शिवसूत्राणि।

जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, इस शोधपत्र के द्वारा मैं यह प्रमाणित करना चाहती हूँ कि शिवसूत्रों के साक्षात्कार करने वाले वसुगुप्त ही सिद्धान्तचंद्रिकाकार वसुगुप्त नहीं हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि कश्मीर शैवदर्शन के प्रख्यात आचार्य वसुगुप्त अन्य हैं और सिद्धान्तचंद्रिकाकार वसुगुप्त अन्य हैं। नामसाम्य के

* रीडर, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

आधार पर ही मुख्यतया दोनों ग्रन्थ एक व्यक्तित्व की कृति माने जा रहे हैं। के० सी० पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'अभिनवगुप्त' में सिद्धान्तचंद्रिका को शिवसूत्रों से संबंधित आचार्य वसुगुप्त की कृति के रूप में मान्यता दी है और इसके लिए उन्होंने ब्यूलर के केटलाग के मेनुस्क्रिप्ट नं० 501 का उल्लेख किया है। शिवसूत्रों के साक्षात्कर्त्ता तथा सिद्धान्तचंद्रिका के रचयिता वसुगुप्त की अभिन्नता अस्वीकार करते हुए भिन्नता मानना ही युक्तिसंगत है। इस संबंध में निम्नलिखित युक्तियां प्रमाण रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। वसुगुप्त के नाम से मान्यता प्राप्त किसी भी कृति में रचनाकार के रूप में वसुगुप्त ने अपना परिचय नहीं दिया है और इसी कारण से वसुगुप्त की कृत्तियों के सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हो सके हैं। सबसे पहले शिवसूत्रों की ही बात की जाए तो यह तो सर्वसम्मत ही है कि शिवसूत्र वसुगुप्त की रचना नहीं है। वे शिवप्रोक्त हैं। जिनमें शांभव, शाक्त और आणवोपाय की चर्चा हुई है। (शिवसूत्रों के साथ वसुगुप्त का सम्बन्ध प्रथम साक्षात्कर्त्ता के रूप में ही स्थापित है तथा मान्यता प्राप्त है। 'स्पंदकारिका' जिसे स्पंदसूत्र की भी अभिधाप्राप्त है उसे रचनाकार के विषय में भी विद्वानों का मतवैभिन्य है।

आचार्य क्षेमराज ने 'स्पंदनिर्णय' में स्पंदकारिका का कर्त्ता वसुगुप्त को माना है। (पृ०। 'लब्ध्वाप्यलभ्यमेतज्ज्ञानधनं हदं गुहान्तं कृतं निहिते वसुगुप्ताच्छिवाय हि भवति सदा सर्वलोकस्य।) इसी तरह से शिवसूत्रविवरण के कर्त्ता सुखानंद ने भी स्पंदकारिका को वसुगुप्त की कृति माना है। (श्रीमान्वसुगुप्ताचार्यः समासादितानि स्पृष्टगद्वैतार्थज्ञाप्ये व्याख्यातानि स्पन्दकारिका निबद्धानि च - उपोद्घात)। इसके अतिरिक्त रामकण्ठ, यदुनाथ सिन्हा, शिवोपाध्याय आदि विद्वानों ने भी स्पंदकारिका को वसुगुप्त की रचना

स्वीकार किया है। इसके विपरीत आचार्य भास्कर ने कल्लट को स्पंदकारिका के रचयिता होने का श्रेय दिया है (वसुगुप्तपुरो- श्रीकल्लटायऽप्येचतुःखण्डानि तान्यथ, व्याकरोतिक्रमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रै स्वैकस्तत् - शि०सू०वा०, पृ० 2-3)। स्पंदप्रदीपिकाकार उत्पलदेव ने भी ऐसा ही माना है। (वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः रहस्यं श्लोकयाभास सम्यक् श्री कल्लट :- श्लो० 53)। इसके अतिरिक्त बल्लजिन्नाथ पंडित, जे०सी० चटर्जी, सुनीलचन्द्र रे जैसे विद्वानों ने भी वसुगुप्त को स्पंदसूत्रों का कर्त्ता स्वीकार नहीं किया है। इसी तरह से कुछ विद्वान् 'स्पंदामृत' को स्वतंत्रकृति के रूप में यदि मान्यता देते हैं तो दूसरे विद्वान् उसे स्पंदसूत्र से ही सम्बद्ध मानते हैं। क्षेमराज ने अपने स्पंदनिर्णय में स्पंदामृत शब्द का उल्लेख किया है। (स्पंदामृते चर्वितऽपि स्पंदसंदोहतो मनाक्।) कुछ विद्वानों ने स्पंदामृत को वसुगुप्त की और स्पंदकारिका को कल्लट की कृति बताकर स्पंदामृत का समावेश स्पंदकारिका में माना है अथवा स्पंदामृत को स्पन्दकारिका का आधार स्वीकार किया है। कल्लट के स्पन्दसर्वस्व में ऐसा उल्लेख मिलता है 'स्पंदामृतं वसुगुप्तपादैः कल्लटस्ततः प्रकटीचकार।' इसी तरह से 'वासवी टीका' जो कि श्रीमद्भगवद्गीता पर लिखी गई एक टीका है उसका अन्तः साक्ष्य कहीं भी यह प्रमाणित नहीं करता है कि यह आचार्य वसुगुप्त की कृति है। सेन्ट्रल एशियन स्टडीज विभाग (कश्मीर) में पाण्डुलिपि के रूप में यह टीका सुरक्षित है और इसमें गीता के द्वितीय अध्याय से लेकर षष्ठ अध्याय तक तथा 12वें अध्याय से लेकर 15वें अध्याय तक की टीका उपलब्ध होती है। केवल मात्र पाण्डुलिपि के प्राप्तकर्त्ता द्वारा ग्रन्थकार के रूप में वसुगुप्त की घोषणा करने से ही इसे सर्वसम्मत से वसुगुप्त की कृति स्वीकार कर लिया गया है। पाण्डुलिपि के रजिस्टर पर लिखा है-

गास्कर ने
प्रेय दिया
तान्यथ,
सू० वा०,
ऐसा ही
रहस्यं
। इसके
चटर्जी,
स्पंदसूत्रों
से कुछ
मान्यता
द्व मानते
शब्द का
संदोह तो
की और
मृत का
मृत को
ल्लट के
स्पंदामृतं
तरह से
खी गई
प्रमाणित
कति है।
डुलिपि
गीता के
12वें
उपलब्ध
द्वारा
ही इसे
लिया

It contains following adhyayas 2-6, 12-15, An author of the same is stated Vasugupta by the possessor of the manuscript (10009).

(इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धान्तचंद्रिका के अतिरिक्त वसुगुप्त के नाम से मिलने वाली शिवसूत्र, स्पंदकारिका, स्पंदामृत, वासवीटीका -- इसमें से किसी का भी रचनाकार स्पष्ट रूप से आचार्य वसुगुप्त उद्धोषित नहीं हुए जबकि 'सिद्धान्तचंद्रिका' में ग्रन्थकार वसुगुप्त का नामोल्लेख अत्यन्त स्पष्ट है।

शिवसूत्रों के साक्षात्कर्त्ता वसुगुप्त से सिद्धान्तचंद्रिकाकार वसुगुप्त की भिन्नता का समर्थक दूसरा प्रमाण यह है कि शिवसूत्र, स्पंदकारिका, स्पंदामृत वासवी टीका -- इन कृतियों का सम्बन्ध कश्मीर शैवदर्शन के अभिमत सिद्धान्तों की सारगर्भित व्याख्या एवं स्थापना है जबकि सिद्धान्तचंद्रिका में वेदान्त विप्रति-पत्तियां दी गई हैं। जगत् के अकर्तृत्व का खण्डन करके उसमें उसके सकर्तृत्व का प्रतिपादन किया गया है। जड़-कर्तृत्व का निषेध करते हुए चेतन के कर्तृत्व के सिद्धान्त की स्थापना की गई है। सिद्धान्तों के खण्डन एवं मण्डन की इस प्रक्रिया में मीमांसा, न्याय, वेदान्त सांख्य, योग, वैशेषिक, बौद्ध, जैन, पांचरात्र आदि दर्शनों के मन्तव्य प्रस्तुत किए गए हैं। जैमिनी, कौमारिल, कपाद, गौतम, अक्षपाद, पतञ्जलि, बादरायणाचार्य, उदयनाचार्य आदि का नामोल्लेख भी किया गया है। क्या कारण है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ में कहीं भी किसी सिद्धान्त की चर्चा के प्रसंग में कश्मीर-शैवदर्शन के किसी भी सिद्धान्त अथवा आचार्य का कोई भी संकेत नहीं मिलता। यदि शिवसूत्रों के साक्षात्कर्त्ता, कश्मीर-शैवदर्शन के आचार्य वसुगुप्त द्वारा ही इस सिद्धान्तचंद्रिका' ग्रन्थ की रचना हुई होती तो इसमें वसुगुप्त की शैवदर्शन के प्रति जो आस्था थी

उसकी झलक किसी न किसी रूप में अवश्य मिलती। सिद्धान्तचंद्रिका में तो सर्वत्र ही वेदान्तसम्मत मन्तव्यों के प्रति ग्रन्थकार का झुकाव देखने को मिलता है। उसमें सत्यमज्ञानमनन्तम् आदि के स्वरूप वाले एकमात्र ब्रह्म को ही जगत् के प्रति अभिन्ननिमित्तोपादान के रूप में प्रतिपादित किया गया है। यदि शैवाचार्य वसुगुप्त ही सिद्धान्तचंद्रिकाकार वसुगुप्त होते तो वह सर्वत्र काश्मीर शैव दर्शन के अभिमत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते और विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन करते, जैसा कि हम आचार्य शंकर के सम्बन्ध में देखते हैं। आचार्य शंकर ने चाहे बादरायण के सूत्रों पर भाष्य किया हो या श्रीमद्भगवद्गीता पर भाष्य लिखा हो या उपनिषदों पर भाष्य लिखा हो या विवेकचूडामणि ग्रन्थ लिखा हो या सौंदर्य लहरी लिखा हो सर्वत्र उनके अभीष्ट अद्वैतसिद्धान्तों का ही प्रतिपादन मिलता है लेकिन वसुगुप्त के साथ संभाव्यमान कृति सिद्धान्तचंद्रिका में ऐसा नहीं मिलता जबकि वह भी एक दार्शनिक कृति है तथा उसमें प्रायः सभी दर्शनों के अभिमत सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है, अछूता रहा है तो केवल मात्र काश्मीर शैव-दर्शन। यह युक्ति भी इसी मन्तव्य की पुष्टि करती है कि सिद्धान्तचंद्रिका शिवसूत्र से तथा काश्मीर शैवदर्शन से संबंध रखने वाले आचार्य वसुगुप्त से कोई संबंध नहीं रखती है।

शिवसूत्रों के साक्षात्कर्त्ता वसुगुप्त तथा सिद्धान्तचंद्रिकाकार वसुगुप्त की अभिन्नता को खण्डित करके भिन्नता को पुष्ट करने वाला सबसे प्रबल प्रमाण सिद्धान्तचंद्रिका में दशम शतक के न्यायाचार्य उदयन का उपलब्ध होने वाला नामोल्लेख है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही 'सत्यमज्ञानमनन्तम्' के रूप में ब्रह्म के लक्षण का निरूपण करते हुए 'मिति', 'अनुगिति' की चर्चा के प्रसंग में उदयनाचार्य का मन्तव्य प्रस्तुत किया गया है

'व्यतिरेको व लक्षणमित्यत्रोदयनाचार्याः मितिः' - सिद्धान्तचंद्रिका, पृ०-2 (प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य ने वाचस्पतिमिश्र की तात्पर्यटीका पर) 'तात्पर्यटीकापरिशुद्धि' लिखी है। इसका समय 984 ईस्वी माना जाता है। कश्मीर-शैवदर्शन के और शिवसूत्रों के साक्षात्कार करने वाले आचार्य वसुगुप्त का समय उनके प्रमुख शिष्य भट्टकल्लट की स्थितिकाल के आधार पर किया जाता है।

कल्हण की राजतरंगिणी में कल्लट को नवम शतक के उत्तरार्ध के नरेश अवन्तिवर्मा का समकालीन घोषित किया जाता है - 'अनुग्रहायलोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयाः अवन्तिवर्मण काले सिद्धाः भुवनमावतरन्। 5/66। इस आधार पर भट्टकल्लट के गुरु वसुगुप्त का समय उनसे कुछ पूर्व नवम शतक का पूर्वार्ध अथवा अष्टम शतक का उत्तरार्ध स्वीकार किया जाता है। इसके अतिरिक्त वसुगुप्त के समय के निर्धारण के लिए एक अन्य साक्ष्य भी है। इसके अतिरिक्त वसुगुप्त के समय के निर्धारण के लिए एक अन्य साक्ष्य भी है कि दशम शतक के उत्तरार्ध अथवा 11वें शतक के पूर्वार्ध के आचार्य अभिनवगुप्त को वसुगुप्त की शिष्यपरम्परा में चतुर्थ शिष्य माना जाता है।'

1. क्षेमराजकृत स्पंदनिर्णय की भूमिका, मधुसूदन कौल, पृ०-3

It was in the 8th century that Vasugupta studied the Shaivaagamas from the stand

point of idealistic monism.

2. शारदातिलक टीका, श्लोक 3, पृ०, "श्रीकण्ठ वसुमन्तं वसुगुप्त सोमानन्दं तथोत्पलाचार्य लक्ष्मणाभिनवगुप्त वन्दे श्री क्षेमराज च।

वसुगुप्त को भट्टकल्लट तथा सोमानन्द का समकालीन माना जाता है।'

सैद्धांतिक दृष्टि से अविरोध एवं समानता को लक्ष्य करके यदुनाथ सिन्हा आचार्य वसुगुप्त को शंकर का समकालीन होने की संभावना व्यक्त करते हैं।'

अभिनवगुप्त के स्थितिकाल के आधार पर भी वसुगुप्त की पूर्ववर्ती स्थिति सिद्ध होती है और उनका समय नवम शतक के पूर्वार्ध तक निर्धारित करना सम्यग् प्रतीत होता है। इससे यह तथ्य सामने आता है कि यदि सिद्धान्तचंद्रिका कश्मीर-शैवदर्शन के प्रख्यात आचार्य वसुगुप्त की कृति होती तो उसमें दशम शतक के उत्तरार्ध के नैयायिक उदयनाचार्य का उल्लेख कदापि संभव न होता। इससे यह प्रमाणित होता है कि सिद्धान्तचंद्रिकाकार वसुगुप्त निःसन्देह कोई वह वसुगुप्त हैं जो दशम शतक के आचार्य उदयन के समकालीन अथवा परवर्ती रहे होंगे।

इन प्रबल युक्तियों के आधार पर यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि शिवसूत्रों के साक्षात्कर्ता वसुगुप्त की सिद्धान्तचंद्रिकाकार वसुगुप्त से नितान्त भिन्नता है।



1. *Glimpses of Kashmiri Culture* edited by K.N. Dhar, Shaivism and Kashmir's doctrine of Recognition by Dr. R. K. Kaw, "Bhatt Kallata and somananda, Contemporary of Vasugupta."
2. *Schools of Saivism* by Jadunath Sinha, Page 1, Vasugupta might be a contemporary of Shankara.

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में चिति का स्वरूप

रमणीका जलाली*

सदाशिव से लेकर भूमिपर्यन्त विश्व की सिद्धिरूप निष्पत्ति, स्थितिरूप प्रकाशन और परप्रमाता में विश्रान्तिरूप संहार के लिए स्वतन्त्र, अनुत्तरविमर्शमयी, शिवभट्टारक से अभिन्न, पराशक्तिरूप भगवती चित्ति ही कारण है। अपना आत्मदेवता ही सब का कारण, सुखोपाय द्वारा प्राप्य तथा महाफल है-इस बात को अभिव्यक्त करने के लिए कहते हैं:-

“चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः” अर्थात् स्वतन्त्र चित्ति ही सृष्टि, स्थिति और लय अथवा संसारगत भोग-मोक्ष स्वरूप सिद्धियों की हेतु है। इसीलिए इसको प्रकाश से अभिन्न तथा स्वतन्त्र कहा जाता है।

इस चिति के चेष्टा करने पर जगत् का उद्भव एवं स्थापन होता है तथा प्रसार के निवृत्त होने पर जगत् का लय हो जाता है। चित्रप्रकाश से भिन्न, अप्रकाशमान अतः असत् होने से अन्य माया-प्रकृति आदि की कहीं भी कारणता नहीं है। और यदि उन्हें प्रकाशमान माना जाये तो प्रकाश के साथ ऐक्य होने के कारण प्रकाश रूप चित्ति ही हेतु है, माया आदि कोई भी नहीं। अतएव देश, काल एवं आकार, इसके द्वारा रचित तथा अनुप्राणित होने के कारण इसके स्वरूप को खण्डित नहीं कर सकते। अतः यह चिति शक्ति, व्यापक, नित्य उदित तथा परिपूर्णरूप है। जगत् भी चित् से भिन्न नहीं है तब अभेदावस्था में इन दोनों की कार्यकारणता कैसी? इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा गया है

कि - भगवती चित् ही जो स्वच्छ और स्वतन्त्र है भिन्न-2 अन्नत संसारों के रूप में स्फुरित होती है - इतना ही वहां पारमार्थिक कार्यकारणभाव है। यही प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूप विश्व के प्रकाशन में कारण है। अतः स्वतन्त्र, अपरिच्छिन्न एवं स्वप्रकाशरूप इस चिति शक्ति की सिद्धि में, नवीन अर्थ को प्रकाशित करने वाला बेचारा प्रमाण, उपयोगी तथा उपपन्न नहीं। जैसा कि त्रिकसार नामक ग्रन्थ में कहा गया है - “जिस प्रकार कोई व्यक्ति, अपने पैर से अपने ही शिर की छाया को लाँघना चाहता है किन्तु पैर के नीचे शिर नहीं आ पाता वैसे ही इस वैन्दवी कला चिति शक्ति को समझना चाहिए।”¹² और यह शक्ति विश्व की सिद्धि अर्थात् अद्वय परतत्त्व के साथ सामरस्थ-ऐक्य सम्पादनात्मक संहार में हेतु, है इसी लिए इसे स्वतन्त्र कहा जाता है। जब व्यक्ति को इसके स्वातन्त्र्य की प्रत्यभिज्ञा - पहचान हो जाती है तब यही भोग मोक्ष रूप सम्पूर्ण सिद्धियों की हेतु बनती है। यदि चिति संसार का कारण है तो इसके लिए उपादानादि की अपेक्षा होने से भेदवाद का त्याग सम्भव नहीं हो सकता- इस अशङ्का के लिए कहा गया है-“स्वेच्छा से ही चिति शक्ति स्वात्मरूप भित्ति में विश्व का उन्मीलन करती है।”¹³ जिस प्रकार संसार भगवान् का शरीर है वैसे ही-सङ्कुचित-चिति शक्ति रूप जीवात्मा भी सङ्कुचित विश्वमय शरीर को धारण करने वाला है।¹⁴

1. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् - डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी-

पृ० 2-3

2. स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लाङ्घतुमीहते। - पादौदेशे शिरो न स्यात्तथेयं वैन्दवी कलात्रिकसार-क्षेमराज ॥

3. स्वच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। - प्रत्यभिज्ञाहृदयम् - डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी,

पृ०-6

4. चितिसङ्कोचात्मा चेतनोऽपि सङ्कुचितविश्वमयः। - प्रत्यभिज्ञाहृदयम्,

पृ०-10

* रीडर, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

श्री परमशिव, अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में अवस्थित विश्व को सदाशिव, आदि रूप से प्रकाशित करने की इच्छा करते हुए पहले, चिदैक्यसङ्कोचमय अनाश्रित शिव अथवा शून्यातिशून्य रूप में प्रकाशात्मक तथा प्रकाशमान रूप में स्फुरित होते हैं। पश्चात् घनीभूत चिद्रसमय सम्पूर्ण तत्त्व, भुवनभाव तथा भिन्न-2 प्रमाताओं के रूप में अपने को विकसित करते हैं। जिस प्रकार भगवान् विश्वरूप शरीर वाले हैं वैसे ही सङ्कुचित चिद्रूप प्रमाता भी वटबीज के समान सङ्कुचित समस्त विश्वरूप होता है। जैसे कि सिद्धान्त का वचन भी है :- "वह, पृथक् रूप से शरीर भी है और शरीर भी तथा समष्टि रूप से समस्त शरीरों की शरीरी आत्मा है।" त्रिशिरोमत में भी- हे प्रिये, अब सुनो, शरीर सब देवों से युक्त होता है। वहां कठिन अंश पृथ्वी और द्रवांश जल कहा गया है।^१ जैसा कि कहा गया है- चेतन पद से अवतरित तथा विषयों द्वारा सङ्कुचित चिति ही चित है।^२

चित नामक कोई अन्य पदार्थ नहीं है अपितु भगवती चिति ही चित संज्ञा को प्राप्त करती है (होती है)। जब वह चिति अपने स्वरूप को छिपाकर सङ्कोच का अवलम्बन ग्रहण करती है तब उसकी दो प्रकार की गति होती है- कभी तो वह उल्लसित सङ्कोच को गौण करके चितप्राधान्य को लेकर स्फुरित होती है और

कभी सङ्कोच की प्रधानता से। स्वाभाविक चितप्राधान्य पक्ष में प्रकाशमात्र प्रधान होने पर विज्ञानाकलरूपता विकसित होती है और प्रकाश एवं विमर्श दोनों की प्रधानता में विद्यातत्त्व में अवस्थित प्रमातृता प्राप्त होती है।

मायिक दशा में, आवृत्त रहने पर भी चिदग्नि, अंशतः प्रमेय रूपी इन्धन को दग्ध कर देती है।^३

अतः चिति ही संसार का ग्रास कर लेने के कारण अग्नि कही जाती है। यही अवरोह पद या जीव दशा में, अधिक राख से ढकी अग्नि के सदृश, आच्छादित होने पर भी स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा अंशतः नील-पीत आदि पदार्थों के इन्धन को आत्मसात् कर लेती है। 'मात्रा' शब्द का यह अभिप्राय है - ग्रास करने पर भी पूर्ण रूप से नहीं निगल जाती किन्तु संस्कार रूप से उत्थापित करती है। और ग्रासकता सभी जीवों में अपने अनुभव से सिद्ध है। जैसा कि उत्पलाचार्य ने अपने स्तोत्रों में कहा है- "ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि सभी प्राणी, प्रमेयों का ग्रास करते हुए विद्यमान हैं अतः हे देव, भवद्रूप इस विश्व की मैं वन्दना करता हूं।

"वर्तन्ते जन्तवोऽशेषा अपि ब्रह्मेन्द्रविष्णवः।
ग्रसमानास्ततो वन्दे देव विश्वं भवन्मयम्॥"^४



1. विग्रहो विग्रही चैव सर्वविग्रहविग्रही।

पृ० 11

2. सर्वदेवमयः कायस्तं चेदानीं शृणु प्रिये। पृथिवी कठित्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम्॥

प्र० भिज्ञा०-पृ० - 11

3. चित्तिरेव चेतनपदादवरुद्धा चेत्यसङ्कोचिनी चित्रम्। -

प्र० भि०, पृ० - 13

4. चितिवह्निखरोहपदे छन्नोऽपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुष्यति॥ -

प्र० भि०, पृ० - 38

5. शिवस्तोत्रावली - 20 श्लोक 17 ।

षट्त्रिंशत्-तत्त्व सन्दोह के सन्दर्भ में काश्मीर शैव दर्शन के तत्त्व

डॉ० केदार नाथ शर्मा*

सृष्टि के प्रारम्भिक काल से ही मानव ईश्वरनिर्मित जगत् की विविधताओं को देखकर अचम्भित होता रहा है और इसके रहस्यमयी भेद समझने के लिए चिन्तन एवं मनन करता रहा है। चिन्तन की इन्हीं धारणाओं को विभिन्न दर्शनों का नाम दिया गया। भारत के दर्शनों को मुख्यरूप से दो विभागों में बांटा जा सकता है—

१. वैदिक दर्शन और

२. अवैदिक दर्शन।

इन्हें ही क्रमशः आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन के नाम से जाना जाता है। वेदों एवं वैदिक सिद्धान्तों को स्वीकार करने दर्शन वाले वैदिक या आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। जब कि वेदों और इनके सिद्धान्तों को न मानने वाले दर्शन अवैदिक अथवा नास्तिक दर्शन कहलाते हैं।^१

वेदों की प्रामाणिकता मानने से प्रसिद्ध षट् दर्शन—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त—प्रधानतय आस्तिक दर्शन माने जाते हैं। तथा वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार न करने वाले चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन अवैदिक या नास्तिक दर्शन कहे जाते हैं।^२ ये अवैदिक दर्शन न केवल वेदों की प्रमाणता को ही अस्वीकार करते हैं, अपितु ये वेदोक्त धर्मों के प्रबल

विरोधी भी हैं।

भारतीय दर्शनों का एक अन्य वर्ग तान्त्रिक दर्शनों का है। दक्षिण भारत के प्राचीन पाशुपत दर्शन, शैवसिद्धान्त और शिवाद्वैत दर्शन मूलतः तान्त्रिक दर्शन हैं। क्योंकि आगम शास्त्र तथा आगमिक सन्तों के भजन और उपदेश ही इन दर्शनों के प्रेरणास्रोत रहे हैं। परन्तु इन तान्त्रिक दर्शनों को भी प्रायः वैदिक दर्शनों के वर्ग में ही रखा जाता है, क्योंकि तान्त्रिक दर्शनों के कई आचार्यों ने वेदों और तान्त्रिक आगमों को समान रूप से प्रमाण माना है।^३ काश्मीर शैव दर्शन एक ऐसा दर्शन है, जो अपने शुद्ध आगमिक स्वभाव को न छोड़ते हुए वैदिक धर्म को स्वीकार किये रहता है।^४

तन्त्रालोककार के अनुसार साधक को गर्भाधान से लेकर विवाह तक के समस्त संस्कारों को वैदिक विधानों के अनुसार निभाना चाहिए।^५ इस दर्शन के अनुसार वेदोक्त वर्णाश्रम-धर्म और कर्मकलाप-धर्म ही जनसाधारण के लिए सर्वोत्तम धर्म है। इस प्रकार यह दर्शन वैदिक धर्म का विरोधी न होकर उसका परिपोषक है। जहां तक मोक्ष प्राप्ति के उपायों की श्रेष्ठता की बात है, काश्मीर शैवदर्शन वैदिक मार्ग की अपेक्षा कौलमार्ग, त्रिकमार्ग आदि आगमिक उपायों को ही सर्वोत्तम मार्ग स्वीकार करता है।^६ इस प्रकार काश्मीर शैव दर्शन वैदिक

१ नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ मनुस्मृति, २.११

२ भारतीय दर्शन, आ० बलदेव, पृ० १६

३ द्रष्टव्यः काश्मीर शैव दर्शन, पृ० १

४ तदेव, पृ० २

५ गर्भाधानादितः कृत्वा यावदुद्वाहमेव च।

तावतु वैदिकं कर्म पश्चाच्छैवे ह्यनन्यमाक्। तन्त्रालोक, खं३, पृ. २७८.

६ वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।

ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तम परम् ॥ तदेव, खं० १, ५४९

* रीडर, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।।

धर्मों का परिपोषक शुद्ध आगमिक दर्शन है। प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य क्षेमराज कृत 'षट्त्रिंशत्तत्त्व सन्दोह' के सन्दर्भ में काश्मीर शैवदर्शन के तत्त्वों का विवेचन करता है।

'षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह' कुल २९ कारिकाओं का लघुकाय ग्रन्थ है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसमें शैव दर्शन के ३६ तत्त्वों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। 'षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह' का शाब्दिक अर्थ ही है—छत्तीस तत्त्वों का समुच्चय या राशि। इस लघुकाय ग्रन्थ का काश्मीर शैव दर्शन में वही स्थान है, जो स्थान 'सांख्यकारिका' का सांख्य दर्शन में और 'वेदान्त सार' का वेदान्तदर्शन में है। इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य आचार्य क्षेमराज थे। षट्त्रिंशत्तत्त्व सन्दोह के अतिरिक्त 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' 'स्पन्दसन्दोह', पराप्रवेशिका, तथा 'बोधिविलास' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की।

काश्मीरशैव दर्शनमूलतः अद्वैतवादी दर्शन है, अतः इसका मूल तत्त्व भी एक ही 'परम शिव' है। इसके अनुसार केवल परमशिव ही एक मात्र परम सत्य तत्त्व है, शेष जो भी कुछ संसार में भासता है, वह सब कुछ सर्वथा मिथ्या न होकर उसी के स्वातन्त्र का विलास है तथा उसी की स्वाभाविक परमेश्वरता की अभिव्यक्तियों का विचित्र दृश्य है।^१ परमशिव ही अपनी इच्छा से ३६ तत्त्वों के रूप प्रतिभासित होता है, जिसे सामान्य जन जगत् के रूप में पहचानते हैं। पुनः ये ३६ तत्त्व अपने-२ कारण में लीन होकर अन्त में केवल परम शिव ही रह जाता है। परमशिव विश्वमय तथा विश्वोत्तीर्ण, प्रकाश विमर्श रूप वाला है। 'षट्त्रिंशत् तत्त्व सन्दोह' में जिन ३६ तत्त्वों का विवरण मिलता है। उनमें प्रथम ११ तत्त्व काश्मीर शैव दर्शन के अपने मौलिक तत्त्व हैं, जब कि प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त शेष २५ तत्त्व सांख्य

दर्शन के हैं। इन सब तत्त्वों के मूल में एक परम शिव ही विद्यमान है, जिसके स्वभाव भूत स्वातन्त्र्य के विलास से अन्य तत्त्वों का आविर्भाव होता है। सृष्टि प्रक्रिया में परमशिव को सांख्य के प्रकृति पुरुष के संसर्ग के समान न तो किसी का संसर्ग प्राप्त करना पड़ता है, और नहीं वेदान्त के ब्रह्म के समान माया की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि परमशिव न तो सांख्य के पुरुष के समान पङ्क्तु हैं और न ही वेदान्त के ब्रह्म के समान निष्क्रिय। वह तो स्वयं क्रियाशील है। काश्मीर शैव दर्शन में 'माया' को परमशिव से भिन्न न मान कर शिव की अनेक शक्तियों में से एक शक्ति माना गया है। अतः सृष्टि-प्रक्रिया में ३६ तत्त्वों की उत्पत्ति 'शिव' से ही होती है, यह आदि तत्त्व के रूप में जाना जाता है। 'षट्त्रिंशत् तत्त्वसन्दोह' में षट्त्रिंशत् (३६) तत्त्वों की क्रमबद्ध शृंखला तथा उनका विवेचन निम्नांकित प्रकार से है :-

१. शिव	२. शक्ति
३. सदाशिव	४. ईश्वर
५. सद्विद्या	६. माया
७. कला	८. विद्या
९. राग	१०. काल
११. नियति	१२. पुरुष
१३. प्रकृति	१४. महत्
१५. अहङ्कार	१६. मन
१७. वाक्	१८. पाणि
१९. पाद	२०. पायु
२१. उपस्थ	२२. श्रोत्र
२३. त्वक्	२४. चक्षु
२५. जिह्वा	२६. घ्राण
२७. शब्द	२८. स्पर्श
२९. रूप	३०. रस
३१. गन्ध	३२. आकाश

१ बलजिन्नाथ पण्डित 'षट्त्रिंशत् तत्त्व' सन्दोह, को क्षेमराज की कृति न मान कर किसी अज्ञातनाम लेखक की कृति मानते हैं। काश्मीर शैवदर्शन, पृ० ३०.

२. द्रष्टव्यः तदेव, प्र० ५३

परम शिव
विलास
क्रिया में
समान
नहीं
पड़ती
समान
नैष्ठिक्य।
'माया'
अनेक
सृष्टि-
होती है,
षट्त्रिंशत्
क्रमबद्ध
से है :-

३३. वायु ३४. अग्नि
३५. जल ३६. पृथ्वी।

इनमें परम शिव से लेकर सद्विद्या पर्यन्त पाँच तत्त्व शुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत आते हैं और शेष मायादि शेष ३१ तत्त्व अशुद्ध सृष्टि कहे जाते हैं। इनका क्रमशः विवरण इस प्रकार है:-

१. शिव तत्त्व : काश्मीर शैव दर्शन के ३६ तत्त्वों में से प्रथम तत्त्व 'शिव' नाम से अभिहित है। 'षट्त्रिंशत्तत्त्व सन्दोह' के अनुसार स्वतंत्र चिद्वहन संवित् स्वभाव परमशिव जब अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से पारमार्थिक कार्य-कारणभाव से अपने अन्तर्गत अखिल विश्व को अवभासित करने की इच्छा करता है, तब उसकी विश्वोन्मीलन की उस आद्या इच्छा-अवस्था को ही 'शिव तत्त्व' कहते हैं। यह 'शिव तत्त्व' 'परम शिव' का प्रथम स्पन्द है।^१ तंत्रसार के अनुसार पञ्चशक्ति स्वभाव परमशिव में चित् शक्ति का प्राधान्य होने पर वह 'शिव तत्त्व' कहलाता है।^२ 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में शिव को 'स्वतन्त्रा चिति' कहा गया है, जो अपने से ही, विना किसी का आश्रय लिए जगत् का सृजन करने में समर्थ है।^३ शिव तत्त्व की दशा का अनुभव करने वाला प्रमाता 'शाम्भव' कहलाता है, वह द्वैत से परे अद्वैत दशा का अनुभव करने वाला प्रमाता 'शाम्भव' कहलाता है, वह द्वैत से परे अद्वैत दशा में पहुँच जाता है। प्रत्येक जीव में रहने वाला आत्म तत्त्व ही शिव तत्त्व है। यह शिव तत्त्व विश्वोत्पीर्ण होने पर भी अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा सम्पूर्ण

जगत् को अवभासित कर विश्वरूप हो जाता है। इस प्रकार शिव तत्त्व मूलतः समग्र पदार्थों एवं प्रमाताओं का मूलाधार है, उसी से सम्पूर्ण जगत् उन्मीलित होता है।

परमशिव की पञ्च शक्तियों 'चित्' आदि का प्राधान्य होने से शुद्ध अद्वैता अर्थात् शिव से सद्विद्या पर्यन्त पञ्च तत्त्वों की उत्पत्ति होती है।^४ अतः शिव तत्त्व में चित् शक्ति का प्राधान्य रहता है। शिव तत्त्व शिव और शक्ति का अद्वय रूप है। शक्ति रहित शिव 'शिव' है। 'शिव' में का 'इकार' शक्ति का वाचक है- 'इकार : शक्तिः ।' तथा शिव के विना शक्ति का अस्तित्व नहीं है।^५

२. शक्ति तत्त्व

परमशिव की आभासरूपता का द्वितीय रूप 'शक्ति तत्त्व' है, जोकि शिव से अभिन्न है। अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति के समान शिव तथा शक्ति में नित्य तादात्म्य बना रहता है। शिव प्रकाश रूप है तो शक्ति विमर्श रूप। शिव में विश्व सृष्टि की इच्छा का उन्मेष ही 'शक्ति' तत्त्व है। 'शक्ति तत्त्व' अपने भीतर समस्त चराचर जगत् को छुपाये रखता है।^६ समस्त जगत् का बीजभूत यह शक्ति तत्त्व शिव से अभिन्न है। 'पराप्रवेशिका' के अनुसार इस जगत् को सृष्ट करने की परमेश्वर की इच्छा का प्रथम स्पन्द ही 'शक्ति तत्त्व' कहलाता है।^७ तन्त्रालोक के अनुसार परमशिव का बाह्योन्मुख क्रिया का नाम 'शक्ति तत्त्व' है।^८ यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि काश्मीर शैव दर्शन के कुछ

१. यदथमनुत्तर मूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्सृष्टम्।

पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः॥ षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, का १.

२. चित् प्राधान्ये शिव तत्त्वम्।-तन्त्रसार, पृ० ७४.

३. क) चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः। प्रत्यभिज्ञा हृदयम्।

ख) स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। तदेव, का० १-२

४. परमार्थसार, भूमिका पृ० ११

५. चिदादिप्राधान्येन क्रमशः शुद्धाध्वनितत्त्वसृष्टयवभासनम्। षट्त्रिंशत् तत्त्व संदोह पृ० १.

६. इच्छा सैव स्वच्छा-संतत समवायिनी सती शक्तिः।

सचराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निजनिर्लीनस्य॥-तदेव का० २.

७. अस्य जगत् स्रष्टुमिच्छां परि गृहीतवतः परमेश्वरस्य प्रथमः स्पन्द एवेच्छा शक्ति तत्त्वम्। परा प्रवेशिका पृ० ६-७

८. परमशिवस्य बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वम्। तन्त्रालोक, भा० ६, पृ० ५०-५१

ग्रन्थों में 'शक्ति तत्त्व' को उसका प्रथम स्पन्द कहा गया है। इतना ही नहीं अकेले क्षेम राज की ही एक कृति 'षट्त्रिंशत्-तत्त्वसन्दोह' में शिव तत्त्व को प्रथम स्पन्द कहा गया है,^१ और इन्हीं की एक अन्य कृति 'पराप्रवेशिका' में 'शक्ति तत्त्व' को प्रथम स्पन्द माना गया है।^२ इस प्रकार शिव और शक्ति दोनों अभेद रूप होने से, इन दोनों को ही परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा जा सकता है। शक्ति तत्त्व की अवस्था का अनुभव 'अहमस्मि' रूप धारण कर लेता है, क्योंकि शक्ति के कारण ही शिव को स्वयं का बोध होता है। इसमें आनन्द की प्रधानता होती है, तथा इस दशा के प्राणी शाक्त कहलाते हैं^३।

३. सदाशिव तत्त्व

शैवदर्शन का तृतीय तत्त्व 'सदाशिव' है। इसमें इच्छाशक्ति का प्राधान्य रहता है। 'षट्त्रिंशत् तत्त्व सन्दोह' के अनुसार अपनी इच्छाशक्ति से अवभासित जगत् को व्याप्त कर रहने वाला, समस्त प्राणी मात्र के प्रति अनुग्रह करने वाला परम शिव का ही रूप सदाशिव कहलाता है।^४ इसकी दशा भेदाभेद की भूमि है। क्योंकि इस भूमि में वास्तव में बाह्यजगत् की स्थिति स्थापित नहीं होती, अतः यह भी अभेद की दशा है। परन्तु इस दशा में आन्तरिक बाह्योन्मुखता अस्फुट अवभासन होता है।

इसलिए भेद की भूमि है। इसकी अनुभूति 'अहमिदम्' है। 'अहम्' शिव का द्योतक है और 'इदम्' विश्व का। सदाशिव तत्त्व में विश्व स्थिति वैसी ही है, जैसे कलाकार के मन में चित्र बनाने से पूर्व चित्र की कल्पना मात्र रहती है।^५ सदाशिव दशा के प्रमाता 'मन्त्र महेश्वर' कहलाते हैं। सदाशिव में 'सत्' की प्रथम अभिव्यक्ति होने से 'सदाशिव' संज्ञा भी दी गई है।^६ शक्ति तत्त्व का उन्मेष सदाशिव तत्त्व है, जिसमें विश्व की अस्फुट प्रतीति होती है। इसलिए सृष्टिक्रम में प्रथम तत्त्व माना है और इसका निमेष होने पर प्रलय हो जाता है। अतः सदाशिव को शिव का अन्तः निमेष कहा गया है।^७

४. ईश्वर तत्त्व

परम शिव की शुद्ध-सृष्टि के आभास क्रम में ईश्वर तत्त्व का चौथा स्थान है। षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहकार के अनुसार सदाशिव के अनन्तर 'इदम्' अंश के प्रधान होने पर समस्त विश्व रूप में दिखाई देता हुआ 'परमशिव' ही ईश्वर तत्त्व की दशा को प्राप्त करता है।^८ ईश्वर तत्त्व परमशिव का बहिर्मुख स्पन्दन है। ईश्वर तत्त्व का अवभासन शिवेच्छा में क्रियाशक्ति के उद्रेक से होते है।^९ इसकी अनुभूति का स्वरूप 'इदमहम्' होता है। अतः सदाशिव में जो विश्व अभी अङ्कुरित हुआ था, वही अस्फुट प्रतीति होता हुआ विश्व, ईश्वर तत्त्व में स्पष्ट

१. यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत् स्मृतम् ॥ पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः । षट्त्रिंशत् तत्त्वसंदोह, का१.

२. द्रष्टव्य, इसी पृष्ठ में पाद टिप्पणी, सं० ३, (परा प्रवेशिका, पृ० ६-७)

३. काश्मीर शैव दर्शन, (पं० बलजिन्नाय) पृ० ८८.

४. स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं जगदात्मया समाच्छाद्य ।

निवसन् स एव निखिलानुग्रहनिरतः सदाशिवोऽभिहतः । षट्त्रिंशत् तत्त्व संदोह, का ३

५. तत्र प्रोन्मीलितमात्रं चित्रं कल्पनया इदमंशस्य अस्फुटत्वात् इच्छा प्राधान्यम् । तदैव का० ३ का विवरण

६. यतः प्रभृति सदिति प्रख्या, सदाख्यायाश्च सदा शिव शब्दरूपाया

इदं वाच्यं तत्त्वम्, तत्सदाख्यं तत्त्वम् । ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविज्ञान, भाग२ पृ० १९५.

७. निमेषोऽन्तः सदाशिवः । ईश्वर प्रत्यभिज्ञा पृ० २, ३.१.३.

८. विश्वं पश्चात्पश्यन् इदन्तया निखिलमीश्वरो जातः । षट्त्रिंशत्तत्त्व का० ४

९. बहिर्भावस्य क्रियाशक्तिमयस्य परत्वे उद्रेकाभासे सति पारमेश्वर शब्द वाच्यमीश्वर तत्त्वं नाम ।.....ईश्वरप्रत्यभिज्ञा वि०, भा०

८, पृ० १९२

अहमिदम्' विश्व का। कलाकार रूपना मात्र महेश्वर' अभिव्यक्ति तत्त्व का अस्फुट च माना है। अतः है।

क्रम में संदोहकार के प्रधान 'परमशिव' श्वर तत्त्व का होते है।^१ अतः था, वही में स्पष्ट

दोह, का१.

रूप में स्फुटित होने लगता है।^१ षट्त्रिंशत् के विवरणकार राजानक आनन्द का कहना है कि ईश्वर तत्त्व में 'वैद्य' की स्फुट प्रतीति होती है, अतः इसमें ज्ञान-शक्ति का उद्रेक रहता है।^२ इस दशा का प्राणी मन्त्रेश्वर कहलाता है। ईश्वर तत्त्व के उन्मेष से ही जगत् का उदय होता है।^३ इसमें भेदाभेद की दशा रहती है, क्योंकि इसमें विश्व की स्फुट प्रतीति होने से भेद की भूमि है, परन्तु प्रमाता स्वयं को विश्व से पृथक् नहीं मानता, अतः अभेद भूमि कही जायेगी।

५. सद्विद्य तत्त्व

सृष्टिक्रम में पाँचवा तत्त्व 'सद्विद्या' है।^४ 'अहम्' और 'इदम्' की समान प्रतीति ही 'सद्विद्या' है।^५ षट्त्रिंशत्तत्त्व सन्दोह' के अनुसार 'अहन्ता' और 'इदन्ता' का अभेद बोध ही 'सद्विद्या' है।^६ 'सद्विद्या' सदाशिव और ईश्वर तत्त्व के अधिष्ठातृ देवताओं का करण स्थानीय तत्त्व है।^७ 'सद्विद्या' को परापरदशा कहा गया है। इसमें क्रियाशक्ति का प्राधान्य रहता है तथा इस दशा के प्राणी 'मन्त्र' कहे जाते हैं। 'सद्विद्या' भेदाभेद का द्योतक है। प्रमाता की तीन अवस्थायें हैं - अभेद, भेदाभेद एवं भेद। अभेद के अन्तर्गत शिव और शक्ति तत्त्व समाविष्ट है। भेदाभेद की दशा में सदाशिव, ईश्वर, सद्विद्या के प्रमाता आते हैं और मायीय प्रमाता भेददशा के प्रमाता हैं।

उपर्युक्त शिव से लेकर सद्विद्य पर्यन्त पाँच तत्त्व परम तत्त्व की अभिव्यक्ति मात्र हैं। अतः 'परमशिव' के तदनुरूप ही हैं। विश्व की आभासरूपता में तत्त्वों का क्रम

वस्तुतः अक्रम में क्रम का आभास है।^८ जिस प्रकार उच्चतर तत्त्व निम्नतर तत्त्वों को अपने में सन्निहित किये रहते हैं। उसी प्रकार निम्नतर तत्त्व भी अपने में सभी उच्चतर तत्त्वों को समाहित किये रहते हैं। शुद्ध सृष्टि तक परमशिव की अभेद अनुभूति बनी रहती है, और माया का प्रभाव लेशमात्र भी नहीं रहता। माया का सर्वथा अभाव तथा 'परमशिव' का अभेद रूप में ज्ञान बने रहने के कारण ही सद्विद्या तक के पञ्च तत्त्व शुद्ध सृष्टि कहलाते हैं।

अशुद्ध सृष्टि

माया से पृथ्वी तक की सृष्टि अशुद्ध सृष्टि कहलाती है, क्योंकि इसमें 'माया' की प्रधानता रहती है, और मायीय जगत् की सृष्टि माया की सहायता से होती है। काश्मीर शैव दर्शन में 'माया' को 'भेदबुद्धि' कहा गया है।^९ यही कारण है कि अशुद्ध सृष्टि में भेद-ज्ञान का प्राधान्य रहता है। माया से आच्छादित हुआ प्रमाता अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर भौतिक शरीर को ही आत्मा समझने लगता है, और असीमित से सीमित रूप धारण करता है तथा प्रमेय जगत् को अपने से पृथक् मानता है। इस प्रकार ग्राह्य-ग्राहक भेद उत्पन्न होने के कारण ही उत्तरवर्ती सृष्टि अशुद्ध सृष्टि कहलाती है। माया से पृथ्वी पर्यन्त एकत्रिंशत् तत्त्वों का विवरण इस प्रकार है:-

६. माया तत्त्व

शैव दर्शन का छठा तत्त्व माया है। यह परम शिव की अनेक शक्तियों में से एक है। इसी माया शक्ति के

१. स्फुटीभूते च इदमंशे.....ईश्वरतत्त्वम्। पराप्रवेशिका, पृ० ७.

२. अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः। षट् त्रिंशत् तत्त्व सं०, का ४ पर विवरण

३. यस्योन्मेषादुदयो जगतः-इत्यत्र ईश्वरतत्त्वमेवोन्मेषशब्देनोक्तम्। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा वि. बा० २

४. सा भवति शुद्ध विद्या यदेताहन्तयोरभेदमतिः। षट् त्रिंशत्तत्त्व सं० का ४

५. तदधिष्ठातृदेवताद्वय गतं 'करणं' विद्या तत्त्वम्। ईश्वर प्र० वि०., भा० २, पृ० १९६

६. क्रियाशक्तिप्राधान्ये विद्यातत्त्वम्। - तन्त्रसार, पृ० ७४, आ०८

७. षट्त्रिंशत्तत्त्व सं०, का० ५ पर विवरण।

८. मायाविभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु। षट्त्रिंशत्तत्त्व सं० का० ५

आवरण में 'परम शिव' अपने वास्तविक स्वरूप का गोपन कर सीमित दशा को प्राप्त करता है— पशु दशा को प्राप्त करता है।^१ वस्तुतः यह माया तत्त्व ही जगत् की रचना का कारण है। क्षेमराज ने इसे 'भेद-बुद्धि' कहा है।^२ क्योंकि माया तत्त्व में भेद ज्ञान का प्राधान्य रहता है। इस दशा में प्रमाता को 'अहम्' तथा 'इदम्' की स्फुट प्रतीति होने के साथ ही ये दोनों सर्वथा भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं। यहां अभेद दृष्टि सर्वथा लुप्त हो जाती है और भेद दृष्टि से देखता हुआ शिव माया के प्राधान्य वश स्वस्वरूप को भूल कर सीमित रूप धारण कर लेता है। 'माया' से क्रमशः कला, विद्या, राग, काल एवं नियति का प्रादुर्भाव होता है। ये सब परिमित शक्तियां हैं। 'परम शिव' के स्वरूप पर आवरण डालने के कारण ये 'कला' आदि 'कञ्चुक' भी कहे जाते हैं।

७. कला तत्त्व

शैव सृष्टि में सप्तम तत्त्व 'कला' है। इसकी उत्पत्ति 'माया' से होती है। 'कला' आत्मा के सर्वकर्तृत्व स्वरूप को आच्छादित कर देती है। जिससे जीव को सीमित कर्तृत्व का बोध होता है। माया शक्ति का प्राबल्य होने पर जीव असीम रूप को भूल कर ससीम रूप धारण कर लेता है। जिससे जीव के सर्वज्ञत्व आदि में सीमित भाव आ जाता है। अतः सर्वकर्तृत्व के स्थान पर किञ्चित् कर्तृत्व का आना ही कला नामक तत्त्व कहलाता है।^३

८ विद्या तत्त्व

यह काश्मीर शैव दर्शन का आठवां तत्त्व है, और माया का द्वितीय कञ्चुक है। इसके संसर्ग में परम

प्रकाश रूप 'परमशिव' की सर्वज्ञत्व शक्ति संकुचित हो जाती है। और 'मैं इतना ही जानता हूं' इस प्रकार की अनुभूति का संचार होता है। सीमित ज्ञान को उत्पन्न करने का मुख्य कारण होने से इसे 'विद्या' कहा जाता है।^४ विद्या (किञ्चिद् ज्ञत्व) ही बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिफलित होने वाले नील-पीतादि बाह्य तथा सुख-दुःखादि आभ्यन्तर भावों का विवेचन कर जीव को उनसे अवगत कराती है।^५ सर्वज्ञत्व के स्थान पर किञ्चिद् ज्ञत्व को उत्पन्न करने वाला कञ्चुक ही 'विद्या' तत्त्व के नाम से जाना जाता है।

९. राग तत्त्व

यह तत्त्व पूर्णत्व को संकुचित कर पुरुष में इच्छा का उदय करता है। क्षेमराज के अनुसार परमेश्वर की नित्य, परिपूर्ण, तृप्ति नामक शक्तियों में संकोच भाव का उत्पन्न होना तथा माया से आच्छादित जीव का विश्व को आत्मभाव से न देख कर देह के प्रति आसक्ति का होना 'राग' तत्त्व कहलाता है।^६ राग तत्त्व द्वेष के विरोधी भाव राग से सर्वथा भिन्न है। यह अन्तःकरण का एक स्वभाव है। राग तत्त्व अन्तःकरण से बहुत परे का तत्त्व है। तथा मायीय प्रमाता को पुरुष तत्त्व के रूप में प्रकट करने वाला एक संकोचक तत्त्व होता है।

१०. काल तत्त्व

परमेश्वर की नित्यता शक्ति ही संकुचित होकर 'काल तत्त्व' कहलाती है। माया से पूर्व प्रमाता के आभासों में देश-काल का कोई नियम नहीं होता। परन्तु माया के

१. यहां 'पशु' का अर्थ 'पाश' (बन्धन) युक्त जीव है। स्वातन्त्र्य का त्याग कर बन्धन युक्त होना ही 'पशुदशा' है।

२. मायाविभेदबुद्धि निर्जांशजातेषु निखिलजीवेषु। - षट्त्रिंशत्तत्त्व सं० का० ५

३. तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थमात्रपरा।

किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ॥ - तदेव, का० ८

४. सर्वज्ञातस्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्र परा।

ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः। षट्त्रिंशत्तत्त्व सं० का० ९

५. द्रष्टव्य, तदेव, का० ९ पर विवरण।

६. नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिस्तस्यैव परिमिता तु सती।

भोगेषु रज्जयन्ती सततममुं रागतत्त्वतां याता ॥ षट्त्रिंशत्तत्त्वसं० का० १०

क्षेत्र में प्रवेश करने पर प्रमाता देश-काल की परिधि का अनुभव करने लगता है। षट्त्रिंशतत्त्व सन्दोह के अनुसार त्रिकाल अबाधित 'परमशिव' नित्यता शक्ति ही माया के प्रभाव से संकोच का आश्रय लेकर कालातीत 'शिव' को वर्तमान, भविष्य और भूतकाल में विभक्त करने के कारण 'काल' तत्त्व के नाम से जानी जाती है।^१ काल के विभाजित होने पर कोई वस्तु पहले, कोई पीछे और कोई अनन्तर अवभासित होने लगती है। इस प्रकार के पौर्वापर्य का क्रम 'काल' कहलाता है।

११. नियति तत्त्व

यह मायीय प्रमाता का पाँचवां कञ्चुक है। षट्त्रिंशतत्त्व सन्दोह के अनुसार 'परमशिव' की स्वातन्त्र्य शक्ति का संकुचित होकर कृत्याकृत्य में नियत नियमों का अवधारण ही 'नियति' तत्त्व कहलाता है।^२ 'नियति' तत्त्व व्यापकत्व को सीमित कर एक निश्चित नियमता का प्रसार करता है। इसके अनुसार एक विशिष्ट कारण से किसी विशिष्ट कार्य की ही उत्पत्ति होती है।

माया के उपर्युक्त पञ्च कञ्चुकों के क्रम के विषय में कश्मीर शैव दर्शन में मतैक्य नहीं है। कहीं विद्या को काल का प्रथम कञ्चुक माना गया है तो अन्यत्र कहीं काल को। ऊपर दिया गया विवरण षट्त्रिंशतत्त्व सन्दोह के अनुसार है।

१२. पुरुष तत्त्व

'परमशिव' अपनी स्वतन्त्रेच्छा से ही अपने वास्तविक स्वरूप का गोपन कर अर्थात् सर्वकर्तृत्व के स्थान पर किञ्चित्कर्तृत्व संकोच को धारण करते हुए 'पति' से 'पशु' दशा को प्राप्तकर पुरुष (जीव) कहा जाता है। यह अणु, जीव, पुमान्, मितात्मा, पुद्गल आदि

विविध नामों से अभिहित किया जाता है। माया से आच्छादित 'परमशिव' अणुरूप को धारण करता है, तथा उसे अपने वास्तविक स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान नहीं रहता। स्वातन्त्र्य का बोध न होने से 'शिव' नानाविध योनियों में संचरण करता हुआ अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता है।^३ संकुचित 'अहम्' का ही नाम 'पुरुष' तत्त्व है। सांख्य दर्शन की भांति काश्मीर शैव दर्शन में भी पुरुष असंख्य माना गया है। यही 'पुरुष' जब अपने वास्तविक स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कर लेता है तो मुक्त हो जाता है।

१३. प्रकृति तत्त्व

परमशिव द्वारा स्वस्वरूप का गोपन कर जीव रूप में भेद को अवभासित करते हुए विश्व रूपी प्रमेय तत्त्व की प्रतीति ही 'प्रकृति' तत्त्व कहलाता है। काश्मीर शैव दर्शन भी प्रकृति को गुणत्रय की साम्यावस्था मानता है। तथा भगवान् शिव पुरुषों के कर्मानुसार उन्हें सुख-दुःखादि भोगों का अनुभव कराने के लिए प्रकृति को क्षुब्ध करते हैं। प्रत्येक पुरुष की भिन्न-भिन्न प्रकृति होने से सांख्य के समान काश्मीर शैवदर्शन में भी असंख्य 'प्रकृति' स्वीकृत है।^४

१४-३६. महत् से पृथ्वी पर्यन्त २३ तत्त्व

महत् से लेकर पृथ्वी पर्यन्त २३ तत्त्वों की सृष्टि को गुणमयी सृष्टि कहा गया है, क्योंकि गुणों में विषमता आ जाने पर ही मूल प्रकृति अन्य रूपों में परिणत होती है। इस परिणाम के क्रम में प्रकृति सर्वप्रथम अन्तःकरणों के रूप में प्रकट होती है। अन्तःकरणों में सर्वप्रथम सत्त्वगुण प्रधान १४ 'महत्' तत्त्व की उत्पत्ति होती है। यह एक स्वच्छन्द जड़ तत्त्व होने से प्रत्येक पदार्थ इसमें

१. द्रष्टव्य, तदेव, का० १० पर विवरण।

२. यस्य स्वतन्त्राख्या शक्तिः संकोचशालिनी सैव।

कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः। तदैव, का० १२

३. परिमितात्मा स स्वात्मैश्वर्यमपि प्रत्यभिज्ञातुमपटुः संचरति विचित्रयोनिषु।- षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह, का० ६ पर विवरण।

४. तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० २९३

प्रतिबिम्बित होता है। अतः प्रमाता के प्रतिबिम्ब को धारण करने से यह चेतन जैसा प्रतीत होता है और चेतन के समान कार्य करने लगता है। 'महत्' अर्थात् बुद्धि एक करण तत्त्व है, इसके बिना पुरुष प्रमेय के प्रति किसी भी प्रकार के व्यवहार को करने में असमर्थ होता है। महत् (बुद्धि) इस स्थूल सृष्टि में पुरुष के शरीर के भीतर रहकर कार्य करता है। अतः उसे अन्तःकरण कहते हैं। इसका कार्य निश्चय करना होता है।^१

दूसरे अन्तःकरण को १५ 'अहङ्कार' कहा जाता है। गुणों में विषमता आने पर रजोगुण प्रधान इस द्वितीय अन्तःकरण 'अहङ्कार' की उत्पत्ति होती है। 'यह मेरा है', 'यह मेरा नहीं है', इस प्रकार का अभिमान ही- 'अहङ्कार' तत्त्व कहलाता है। अहम्+कार। काश्मीर शैवदर्शन में 'अहम्' को एकमात्र परम उपादेय वस्तु माना गया है, जबकि अन्य दर्शन इसे हेय मानते हैं। शुद्ध, असीम और परिपूर्ण 'अहम्' ही शिव का वास्तविक स्वरूप है। हेय विचार तो 'इदन्ता' का है। समस्त विश्व को 'अहम्' मानना ही जीवन मुक्ति है। परन्तु माया के क्षेत्र में आकर जीव 'अहम्' के इस वास्तविक रूप को नहीं समझता, और जड़ पदार्थों में उसे 'अहम्' की प्रतीति होती है, जो कि 'कृत्रिम अहम्' है। 'अहङ्कार' में 'कार' शब्द कृत्रिमता का वाचक है। निष्कर्षतः माया के प्रभाव से शून्य, प्राण, अन्तःकरणादि को 'अहम्' समझना और इन्हीं के द्वारा होने वाली क्रियाओं को अपनी क्रियायें मानना 'जीव' का 'अहङ्कार' कहलाता है।^२

तीसरे अन्तःकरण को १६ 'मन' कहा जाता है। तमोगुण का परिणाम, संकल्प और विकल्प का कारण 'मन' तत्त्व है।^३

'अहङ्कार' का भी आगे जब परिणाम हो जाता है तो एक ओर से पञ्च ज्ञानेन्द्रियों की, दूसरी ओर से पञ्च कर्मेन्द्रियों की और तीसरी ओर से पञ्च सूक्ष्म विषयों की अभिव्यक्ति हो जाती है। १७ 'श्रोत्र', १८ 'त्वक्', १९ 'चक्षु', २० 'रसना', और २१ 'घ्राण' ये पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के नाम हैं। ये पञ्च कर्मेन्द्रियां विषयों के प्रतिबिम्बों को लेकर बुद्धि के दर्पण में डाल देती हैं। बुद्धि उन प्रतिबिम्बों को विशेष आकार में प्रकट करती है, और बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष अपनी क्षुद्र चेतना के बल से उन निर्विकल्प या सविकल्प आकारों को विषय के रूप में जान लेता है। पुरुष के इस संकुचित ज्ञान सामर्थ्य को ही उसकी अशुद्ध विद्या कहा गया है।^४ २२ वाक्, २३, पाणि, २४ पाद, २५ पायु और २६ उपस्थ पुरुष की कला में उपयुक्त होने वाली ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। तमोगुण प्रधान अहङ्कार से ज्ञानेन्द्रियों के पंच सूक्ष्म विषयों की अभिव्यक्ति होती है। ये पांच विषय 'पञ्च तन्मात्र' कहलाते हैं। पञ्च तन्मात्र के नाम हैं- २७ शब्द, २८ स्पर्श, २९ रूप, ३० रस और ३१ गन्ध। ये सूक्ष्म विषय (पंच तन्मात्र) ही जब परिणाम द्वारा स्थूल बन जाते हैं तो पञ्च स्थूल-भूतों की अभिव्यक्ति होती है- शब्दादि पञ्च तन्मात्र से क्रमशः ३२ आकाश, ३३ वायु, ३४ अग्नि, ३५ जल, और ३६ पृथ्वी नामक स्थूल भूतों की अभिव्यक्ति होती है। 'महत्' से लेकर 'पृथ्वी' पर्यन्त २३ तत्त्वों की सृष्टि को गुणमयी सृष्टि कहते हैं।

"परमशिव" से लेकर पृथ्वी पर्यन्त काश्मीर शैवदर्शन के ३६ तत्त्वों संक्षिप्त वर्णन 'षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह' में प्राप्त होता है।



१. ज्ञानादिसत्त्वरूपा.....निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धिः। -षट्त्रिंशतत्त्व सं० का० १५.

२. काश्मीर शैव दर्शन, (बलजिन्नाथ पण्डित) पृ० १२९

३. षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह, का ० १५

काश्मीर अद्वैत शैव और अद्वैत वेदान्त दर्शन - एक विश्लेषण

डॉ० जगीर सिंह*

काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन विशुद्धरूप से आगमिक परम्परा वाली विचारधारा से ओतप्रोत है, जिसके साक्षात् प्रवर्तक भगवान् भैरव अथवा भगवती भैरवी हैं। उनसे यह जगत् कल्याणार्थ उपदेशात्मक शैली में विनिःसृत होकर कालान्तर में उनके अनुग्रहप्राप्त महान् शैवाचार्यों सिद्ध दुर्वासा, वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पलदेव, लक्ष्मणगुप्त, अभिनवगुप्त क्षेमराज आदि द्वारा तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक परिवेश को प्राप्त हुआ है।¹ परन्तु ऐसा होने पर भी वेद-विरोधी नहीं है, प्रत्युत् उसके सारतत्त्व को सम्यक् रूप से प्रस्थापित करने वाली है।²

अद्वैत वेदान्त दर्शन का मूल स्रोत वेद एवं विशेषकर उपनिषदें हैं। अतः यह स्पष्टतया निगम-परम्परा से सर्वजनहितार्थ प्रसरित होता हुआ अवान्तर काल में गौड़पाद, बादरायण एवं विशेषकर आद्य जगद्गुरु शङ्कराचार्य एवं सदानन्द के काल पर्यन्त विशुद्ध दार्शनिक रूप में विश्व-विख्यात हुआ है। नैयायिकों के अनुसार निगम (वेद) ईश्वरकृत है, जबकि मीमांसक और वेदान्ती इनकी अभिव्यक्ति साक्षात् ब्रह्म से मानते हैं।³

अतः आगम (शैव शास्त्र) एवं निगम (वेद, वेदान्त) के प्रादुर्भाव के विषय में एक बात पूर्णतः सामान्य है कि इनका मूल-स्रोत एक ही परमसत्ता रही है। भले ही उसे हम शिव कहें, ईश्वर कहें, ब्रह्म कहें अथवा पराशक्ति इत्यादि- नाम वैविध्य से परमार्थसत्ता की अनेकता किसी को भी स्वीकार्य नहीं है। दूसरे, दोनों दर्शनों का लक्ष्य सर्वजन कल्याण ही रहा है। आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति से परमानन्द लाभ एवं आवागमन के दुःखमय चक्र सहित इसके कारण अज्ञान की निवृत्ति-इनका परम उद्देश्य है।⁴

अद्वैत शैव परमसत्ता को विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय मानता है।⁵ तदनुसार एक ओर से वह जड़-चेतन की मयूराण्डरसन्याय से एकीकृत अवस्था प्रकाशमयरूप से सम्पूर्ण प्रपञ्च को आत्मसात् किये हुये अवस्थित रहती है, तथा दूसरी ओर से शिवादि धरणिपर्यन्त प्रमाता प्रमाण एवं प्रमेयरूप से जगद्रूपता को धारण किये रहती है।⁶ यह उसकी पारमेश्वरी लीला का ही विलास है। वह प्रकाश (शिव) और विमर्श (शक्ति) का सामरस्य है।⁷

- क) "कैलासाद्रौ भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया। अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले। मुनिं दुर्वाससं शास्त्रं रहस्यं कुरुतादृशम् ॥" (शि० दृ० ७/109, 110)
- ख) "न स्वबुद्धया शिवो दाता शिवो भोकेति शास्त्रतः"- (तदेव, 7/106)
- क) "गर्भाधानादितः कृत्वा यावदुद्वाहमेव च। तावन्तु वैदिकं कर्म पश्चाच्छैवे ह्यनन्यभाक् ॥" (तं० आ०, आह० 5/278)
- ख) "शास्त्रयोनित्वात्"- (ब्र० सू०, 1/1/3)
- क) "प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च"- (वे० सा०, पृ० 6)
- ख) "किन्तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽपि अनुपलक्षिते। शक्त्याविष्करणेनैवं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ॥"- (इ० प्र० का०, 1/3)
- क) प्रपञ्चोत्तीर्णरूपाय नमस्ते विश्वमूर्तये। सदानन्द प्रकाशाय स्वात्मनेऽनन्तशक्त्यै ॥ (महा० उप० वि०, श्लो० 1)
- ख) "विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं च- इति त्रिकादिदर्शनविदः"- (प्र० ह० टी० पृ० 62)
- क) "श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं.....चिद्रसाशयानतारूपाशेषतत्त्वभुवनभावतत्तत्प्रमात्राद्यात्मतयापि प्रथते"- (प्र० ह० टी०, पृ० 51)
- ख) "प्रपञ्चोत्तीर्णरूपाय नमस्ते विश्वमूर्तये। सदानन्दप्रकाशाय स्वात्मने अनन्तशक्त्यै....." (महा० उप० वि०, श्लो० 1)

* संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय

उसे पूर्णाहं के अस्तित्व सहित उसकी प्रतीति भी होती रहती है। जिस प्रकार अग्नि से उष्णत्व, हिम से शीतलत्व, सूर्य से किरणें तथा पुष्प से सुगन्धि पृथक् नहीं होती, उसी प्रकार शिव से शक्ति अपृथक् है।¹ शक्ति के कारण ही उसकी आनन्दशीलता, क्रियाशीलता, चेतनता, प्रत्युत, विमर्शशीलता होती है तथा यही उसकी स्वतन्त्रता अथवा महेश्वरता कही जाती है। इसके विपरीत केवल प्रकाश (अस्तित्व) युक्त जड़ घटादि में और उसमें क्या अन्तर रहता, अपितु अनीश्वरता का दोष आपतित होता² वह चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियादि अनन्त एवं अबाधित शक्तियों से समन्वित है³ एवं सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय (तिरोधान) तथा अनुग्रह रूप पञ्चकृत्यों से सदैव अपनी स्वातन्त्र्य लीला को सम्पादित करते रहते हैं।⁴ पशुभाव (जीवभाव) को प्राप्त करके भी पञ्चकृत्यों को वैसे ही निभाते रहते हैं।⁵ उनकी सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व एवं व्यापकत्व शक्तियाँ ही संसारी दशा में संकुचित होकर यथाक्रम कला-विद्या-राग-काल और नियतिरूप से प्रकाशित होती हैं।⁶ आत्मा

शिवरूप ही है।⁷ भगवती चित् शक्ति ही विश्व सिसृक्षा के समय चेत्य (ग्राह्य) के अनुकूल संकुचित होकर चित्त (जीव)⁸ एवं स्वशक्ति तथा पञ्चकृत्य ज्ञान से पुनः चेतन पद पर आरूढ़ होकर चित् बन जाती है।⁹ अतः चित् और चित्त में पूर्ण ऐक्य है।

वेदान्त भी आत्मा को ब्रह्मरूप ही मानता है।¹⁰ परन्तु वह केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप ही माना गया है¹¹, क्रियास्वरूप नहीं। इतना ही नहीं, उसे सर्वथा निष्क्रिय और अस्पन्दरूप माना गया है। शैवों के अनुसार ज्ञान का स्वभाव ही क्रिया है, क्योंकि जानना भी तो स्वयं एक प्रकार की क्रिया ही है। काल-सम्बन्ध और पुरुष सम्बन्ध के बिना जानने का अवभास ही नहीं होता? ये दोनों सम्बन्ध क्रिया के ही धर्म होते हैं।¹² इसलिये जहाँ ज्ञान होता है, वहीं क्रिया भी होती है और जहाँ क्रिया होती है वहाँ ज्ञान भी होता है। क्रिया ज्ञान की घनीभाव सी अवस्था एवं ज्ञान क्रिया की द्रवीभाव सी दशा मानी गई है।¹³ इसलिये पूर्णस्वतन्त्र परमशिव ज्ञानस्वरूप भी है और क्रियास्वरूप भी। उसकी प्रकाशात्मकता उसकी

1. "न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ॥ शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवं जातु न वर्ण्यते ॥ यथा न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्रेरीण्यपृथग्भवेत् ।" (शिंदू०, 3/2, 3/7)
2. "अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः । महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत् ॥" (तं०आ०, 3/100)
3. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृतचिद्विभुः । अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ॥ (शिंदू० 1/2)
4. "सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम् । अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ॥" (स्वच्छ० तं०, 1/3)
5. "तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति-" (प्र०ह०, सू० 10)
6. "तथा सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्वशक्त्यः संकोचं गृहणाना यथाक्रमं कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूपतया भान्ति"- (प्र०ह० टी०, पृ० 66)
7. क) "सर्वभावेषु स्वात्मैव शिवः"- (शिंदू० वृ० 1/2)
- ख) "आत्मैव.....शिवः"- (शिंदू०, 1/2)
8. "चित्तिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्"- (प्र०ह०, सू० 5)
9. "तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चित्तिः"- (प्र०ह०, सू० 13)
10. क) "आत्मा च ब्रह्म"- (ब्र०सू०, शा०आ० 1/1/1)
- ख) "आत्मानमखिलाधारमाश्रये"- (वे०सा०श्लो० 1)
11. "एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्योविज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते" (ब्र०सू०, शा०भा०, 1/3/9)
12. "घटादिग्रहकालेऽपि घट जानाति सा क्रिया । जानाति ज्ञानमत्रैव निरिच्छोर्वेद न क्षतिः"- (शिंदू० 1/24)
13. "ज्ञानं गृहीतकठिनत्वगुणं क्रिया स्यात् । ज्ञानं भवेद्विरलिमाश्रयिणी क्रियैव ॥" (मा०च०वि० 1/15)

सिद्धा
होकर
से पुनः
अतः
है।¹⁰
है।¹¹,
निष्क्रिय
ज्ञान का
वयं एक
सम्बन्ध
ये दोनों
हैं ज्ञान
होती है
अवस्था
है।¹³
है और
उसकी

नागैरौष्यं
(2, 3, 7)
(3/100)
(दृ० 1/2)
(०, 1/3)
(सू० 10)
(तिरूपतया
(पृ० 66)
(वृ० 1/2)
(०, 1/2)
(सू० 5)
(सू० 13)
(1/1/1)
(श्लो० 1)
(1/3/9)
(० 1/24)
(० 1/15)

ज्ञानस्वरूपता होती है तथा उसकी विमर्शात्मकता उसकी क्रियास्वरूपता।¹ अभिनवगुप्त के अनुसार वेदान्तियों का "ब्रह्म" शब्द को केवल "बृहद्" (व्यापक, विभु) धातु से निष्पन्न मानना (जैसा कि शङ्कराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या में "ब्रह्म" शब्द को "बृहद्" धातु से व्यापकार्थ में व्युत्पन्न स्वीकार किया है)² भी उसके केवल प्रकाशरूपत्व का द्योतक है, विमर्शरूप का नहीं। परन्तु शैवों के दृष्टिकोण में परमसत्ता का वाचक "ब्रह्म" शब्द "बृहदत्त्व" के साथ-साथ "बृंहणत्व" (क्रियाशील) का भी द्योतक है।³ वेदान्त-सम्मत ब्रह्म निर्गुण एवं निष्क्रिय होने से केवल माया (अविद्या, अज्ञान) की उपाधि से युक्त होकर ही सगुण (ईश्वर, अपर ब्रह्म) रूप में ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व, सर्वनियन्तृत्वादि गुणों वाला होकर अव्यक्त, सर्वान्तर्यामी तथा जगत्कारण ईश्वर कहा जाता है। परन्तु विद्या (ज्ञान) द्वारा सभी उपाधियों के निरस्त होने पर आत्मा (ब्रह्म) में ईशितृत्व, सर्वज्ञत्वादि व्यवहार नहीं हो सकते। अतः ब्रह्म (आत्मा) में इस प्रकार (सर्वज्ञत्वादि) का व्यवहार पारमार्थिक नहीं है, अपितु मायोपाधियुक्त चैतन्य में ही होता है।⁴ इसके विपरीत, शैव दर्शन में परमेश्वर सर्वशक्तिमान्, साक्षात् जगत्कारण स्वतन्त्र, पञ्चकृत्यकार

एवं मायादि द्वारा नियन्त्रित (अभिभूत) नहीं है।⁵

इस प्रकार शैव-सम्मत आत्मा (परमसत्ता, परमशिव, परासंवित्) तथा वेदान्त-स्वीकृत आत्मा (ब्रह्म) के स्वरूप, लक्षण, कार्य एवं सामर्थ्य में स्पष्ट महान् भेद परिलक्षित होता है। परासंवित् का विमर्श स्वभाव उसकी स्वतन्त्रता, महेश्वरता, चितिक्रिया एवं सर्वशक्तिसमन्विता का द्योतक है। वह जगत्-सृष्टि आदि के लिये मायादि के पराधीन न होकर अपनी इच्छा से अपने को आधार बनाकर निर्माणकार्य करती है। परन्तु ब्रह्म के निष्कल, निष्क्रिय एवं विशुद्ध ज्ञान रूप होने के कारण उसकी नित्यकूटस्थता पर आक्षेप न आने देने के लिये माया जैसे तत्त्व की परिकल्पना की गई है, जिससे अभिभूत होकर वह एक ओर से ईश्वर, दूसरी ओर से जीव एवं तीसरी ओर से जगत् रूप में विवर्तित होती है। अतः वेदान्त - सम्मत ब्रह्म से जगदुत्पत्ति के लिये उसका माया पर अवलम्बित होना मानना ही पड़ेगा, जबकि शैव-सम्मत परमशिव सर्वथा स्वतन्त्र है। अतएव सर्वकर्ता है।

माया भी वेदान्त की भाँति अनिर्वचनीय स्वरूप एवं आधार वाली होने⁶ की अपेक्षा शिव की एक शक्ति मानी गई है, जो उसकी इच्छा से उसके पारमार्थिक

1. "प्रकाशरूपता ज्ञानं तत्रैव स्वातन्त्र्यात्मा विमर्शः क्रिया"- (ई०, प्र०वि०, 1/8/11)
2. "ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्"- (ब्र०सू०, शां० भा० 1/1/1)
3. "अन्तर्गतविश्ववोर्यसमुच्छलत्तात्मकविसर्गविश्लेषानन्दशक्त्येकधनं ब्रह्म, बृहद्, व्यापकं, बृंहितं च। न तु वेदान्त पाठकाङ्गीकृतकेवलशून्यवादाविदूरवर्तिब्रह्मदर्शन इव"- (परा०त्रि०वि०, पृ० 221)
4. क) "एतद् (समाष्टिरुक्तोपाधितया) उपहितं चैतन्यं (ब्रह्म) सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते"- (वे०सा०, पृ० 20)
ख) "तदेवमविद्यात्मकोपाधि परिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं, सर्वज्ञत्वं, सर्वशक्तित्वं च, न परमार्थतो, विद्यापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशिरोशितव्यसर्वज्ञत्वादि-व्यवहार उपयद्यते"- (ब्र० सू०, शां० भा०, 2/1/14)
ग) "चिच्छयावेशतः शक्तिचेतनेव विभाति सा। तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्॥"- (पं०द०, 3/40)
5. क) "परमेश्वरता जयत्यपूर्वा तव विश्वेश यदीशितव्यशून्या। अपरापि तथैव ते यदेदं जगदाभाति यथा तथा न भाति॥"- (शि०स्तो०, 16/30)
ख) "सभ्यो नटो विभावादिभावा रङ्गः स्वयं भवन्। स्वचरित्रानुकारेण स्वमेव भजते रसम्॥" (विं० शां०, श्लो० 13)
6. "अज्ञानं (माया) तु सदसदभ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं मत्किञ्चिदिति"- (वे०सा०, पृ० 18)

आकाशकल्प स्वरूप में प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय का संकोच अवभासित करती है। इसीलिये उसे स्वरूपगोपनरूपा' अथवा तिरोधानकारी कहा जाता है।¹² वेदान्त-सार में अज्ञान (माया) के दो प्रकार-समष्टि अज्ञान और व्यष्टि अज्ञान-माने गये हैं, जो क्रमशः ईश्वर एवं जीव की अपेक्षा से एकत्व तथा अनेकत्व की विवक्षा से माने गये हैं।¹³ आत्म-स्वरूप को छुपा देने वाली "आवरणशक्ति" तथा एक ब्रह्म में अनेक जगत्-प्रपञ्च का उद्भासन करने वाली "विक्षेपशक्ति"- इसकी दो शक्तियाँ भी मानी गई हैं।¹⁴

शैव दर्शन में भिन्नवेद्यरूपा शिव की मायाशक्ति, जोकि उसकी स्वातन्त्र्यशक्ति का ही एक अवान्तररूप है, अपने को अपूर्णमन्यतात्मक आणवमल, भिन्नवेद्यप्रथारूप मायीय मल तथा सीमित कर्तृत्व के अभिमानयुक्त शुभाशुभ कर्म की वासनात्मक कार्ममल¹⁵ के रूप में विकसित करती है। अतः तीनों मलों का वह ही कारण है।¹⁶ इस प्रकार शिव (पति) स्वेच्छा से लीलावश इन तीनों मलों (पाशों) को अपनी मायाशक्ति से अवकल्पित कर क्लेश, कर्मादि से कलुषित

होकर परतन्त्र की भाँति अभिनय करता हुआ पशु (जीव) बन जाता है।¹⁷ यही नहीं, अपनी सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व तथा सर्वव्यापकत्वादि अबाधित शक्तियों में मायाशक्ति के नेतृत्व द्वारा संकोच करके क्रमशः कला, विद्या, राग, काल और नियतिरूप पञ्चकञ्चुकों को अपना लेता है।¹⁸ और इस प्रकार शक्ति दरिद्र हुआ संसारी जीव, बद्ध बन जाता है। आवागमन के चक्र में फँसकर नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ कष्ट भी पाता है, जो उसकी लीला का ही विलास है। अपनी शक्तियों के प्रत्यभिज्ञान से स्वात्मलाभ होने पर पुनः शिव ही हो जाता है।¹⁹ परमसत्ता की ऐश्वर्यमयी दशा में प्रकाशित होने वाली अबाधित ज्ञान, क्रिया तथा माया शक्तियाँ ही उसकी पशु (जीव) अवस्था (पारतन्त्र्य दशा) में क्रमशः सत्त्वः, रजस् और तमस् गुणों का सीमित रूप धारण कर लेती हैं।²⁰ स्वरूप विकास में पुनः पूर्वरूपों में अभिव्यक्त हो जाती हैं। अतः माया निस्संदिग्धरूप में शिव की शक्ति है और इसके उपयोग में वे पूर्ण स्वतन्त्र हैं, जिससे एकत्व में जगत्-प्रपञ्च के अनेकत्व का उन

1. "यः परमेश्वरेण स्वस्वातन्त्र्यशक्त्याभासितस्वरूपगोपनारूपया महामायाशक्त्या स्वात्मन्याकाशकल्पेऽनाश्रितात्प्रभृति मायाप्रमात्रतः संकोचोऽवभासितः"- (शि०सू०वि०, 1/2)
2. "तिरोधानकारी मायाभिधा पुनः"- (ई०प्र०का०, 3/7)
3. "इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्याभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवहियते"- (वे०सा०, पृ० 19)
4. "अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्"- (तदेव, पृ० 29)
5. "त्रिविधमलस्वरूपम् अपूर्णमन्यताभिन्नवेद्यप्रथा-शुभाशुभवासनात्मकं"- (शि०सू०वि०, 1/4)
6. ".....आणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥ भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम्। कर्तर्यबोधे कार्म तु मायाशक्त्यैव तत्रयम्"- (ई०प्र०का०, 3/15/16)
7. "ऐश्वर्यदशायां प्रमाता विश्वं शरीरतया पश्यन् पतिः, पुंस्त्वावस्थायां तु रागादिक्लेशकर्म-विपाकाशयैः परीतः पशुः"- (ई०प्र०का०वृ०, 3/14)
8. "तथा सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्वशक्त्यः संकोचं गृह्णाना यथाक्रमं कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूपतया भान्ति ॥"- (प्र०हं०टी०, पृ० 66)
9. "तथाविधश्च' अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते, स्वशक्ति विकासे तु शिव एव"- (प्र०हं०टी०, पृ० 66)
10. "स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या। मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ॥"- (ई०प्र०का०, 4/4)

द्वारा अभिव्यक्त करना सार्थक प्रतीत होता है। परन्तु वेदान्त, में माया को ब्रह्म की शक्ति मानने से उसमें शक्तिमत्ता का आक्षेप होता है। वह केवल ईश्वर की अवस्था में ही मानी गई है। यदि, उसे (माया को) ब्रह्म से पृथक् एवं स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाये, तो द्वैतवाद का आरोप होता है। अतः माया को यदि केवल भ्रम (भ्रान्ति) रूप माना जाये, तो भी शङ्का होती है कि उसका भान (प्रकाश, अनुभव) होता है अथवा नहीं? पूर्वपक्ष मानने से उसकी सत्ता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी, क्योंकि जिस किसी वस्तु का भी ज्ञान होता है, उसकी सत्ता अवश्यमेव होती है। दूसरा पक्ष मानने से स्वकथन का व्याघात दोष होता है। अतः प्रतीत होता है कि वेदान्तियों का मायावाद का सिद्धान्त अपने आप में पूर्ण नहीं है। माया का अपना स्वरूप ही निश्चित न होने से उसका ब्रह्म, जीव, जगत् के साथ सम्बन्ध अथवा क्रिया-कलाप (विवर्त) भी संदिग्ध हो जाता है। इसके विपरीत अद्वैत शैव दर्शन में माया की मान्यता, उसका प्रपञ्च से सम्बन्ध एवं क्रियाकलाप (आभास) पूर्णतया युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है अतएव नित्य है और जगत्-मिथ्या है, अतएव अनित्य है।¹ प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य गौड़पाद ने भी कहा है कि वेदान्ती विद्वान् इस जगत् को स्वप्न-प्रपञ्च एवं गन्धर्व-नगर

की भाँति देखते हैं। जीवादि भी भ्रम के कारण ही भासते हैं। वास्तव में, न कोई जीवादि उत्पन्न होता है और न ही ऐसा सम्भव है। एकमात्र वह (ब्रह्म, आत्मा) ही सर्वोत्कृष्ट सत्य है, जिसमें कुछ उत्पन्न नहीं होता है।² परमार्थ में, असत्य जगत् प्रपञ्च (भाव-भूत-भुवनादि विन्यास वैचित्र्य) आत्मा (ब्रह्म) में आरोपित होता है- इस असत्य विभक्त एवं अन्यरूप से प्रतिभासित को ही विवर्त कहते हैं।³ सदानन्द ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये कहा है कि जैसे असर्पभूत रज्जु में (अन्धकारादि दोष के कारण) सर्प का आरोप होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द, अनन्त, अद्वय ब्रह्मरूप वस्तु में अज्ञानादि सकल जडसमूहरूप अवस्तु का आरोप अध्यारोप (विवर्त) कहा जाता है,⁴ जो अतत्त्व (मिथ्या जगत्-प्रपञ्च) की अन्यथा प्रथा (सत्य प्रतीति) ही है।⁵ अतः वेदान्त में जगत् का अपना अस्तित्व स्वीकार न करके उसे ब्रह्म का विवर्त माना गया है।

अद्वैत शैव दर्शन में जगत् को वेदान्त की भाँति विवर्तरूप, अतएव मिथ्या नहीं माना गया है। परमसत्ता की विमर्श शक्ति का ही बहिर्मुख विकास होने से अर्थात् उसके शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त स्थूलतम आभास को ही जगत् कहते हैं।⁶ यही कारण है कि आत्म-परमेश्वर को विश्वोत्तीर्ण के साथ-साथ विश्वमय भी कहा जाता है।⁷ वह चितिशक्ति विश्वसिद्धि के लिये पूर्ण स्वतन्त्र है⁸ और अपनी इच्छा से ही बाह्य उपादानादि

1. "ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यानित्यमिति"-

(वे०सा०, पृ० 9)

2. "स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा । तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥"

(गौ० पा०का०, 2/31)

3. "विवर्तते- तदसत्यरूपमात्मन्युपगच्छति, असत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः, तस्यास्तद् विवर्तते"-

(शि०दु०वृ०, 2/9)

4. "असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः । वस्तु सच्चिदानन्दनन्ताद्वयं ब्रह्म । अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु"-

(वे०सा०, पृ० 17)

5. "सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः । अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः ॥"

(वे०सा०, पृ० 66)

6. "परमेश्वरः पारमेश्वर्या शक्त्या शिवादिधरण्यन्तजगदात्मना स्फुरति प्रकाशते च"-

(परा० प्रा०, पृ० 2)

7. "विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां हृदयं परमेशितुः । परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्तीं संविदं नुमः ॥"

(परा० प्रा०, मं०श्लो०)

8. "चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः"-

(प्र०हं०, सू० 1)

अथवा ब्रह्मादि की भाँति पराधीन हुये बिना ही स्वयं को आधार बनाकर विश्व का उन्मीलन करती है,¹ क्योंकि यदि ऐसा सामर्थ्य उसमें न हो, तो स्वातन्त्र्य की हानि से उसका चित्त ही घटित नहीं होगा।² जैसे दर्पण में नगर अपृथक् रूप से विद्यमान होने पर भी पृथक् की भाँति भासित होता है, वैसे ही चिद्दर्पण से विश्वप्रपञ्च अभिन्न होने पर भी भिन्न एवं परस्पर पृथक्-पृथक् रूप से आभासित होता है। अन्तः स्थित का बहिः प्रकटीकरण ही उन्मीलन कहा गया है। अतः स्पष्ट है कि जगत् भी आत्म-परमेश्वर के प्रकाश के ऐकात्म्य से अवस्थित होता है।³ त्रिशिरो भैरव के अनुसार भी “त्रिशिरो भैरव” ही साक्षात् विश्व को व्याप्त करके अवस्थित है।⁴ शिवसूत्रों में भी जगत् को संविदात्मा की क्रियाशक्ति का स्फुरणरूप विकास माना गया है।⁵ स्पन्दशास्त्र में भी वेदान्त की इस धारणा के विपरीत “नाम-रूपमय जगत् वाणी विकारमात्र” है⁶— कहा है कि शब्द, अर्थ एवं चिन्तन इत्यादि की दशाओं में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो शिवरूप नहीं हो। अतः भोक्ता (आत्म-परमेश्वर) ही सदा सर्वत्र भोग्यभाव (प्रमेयजगत् के रूप) से विद्यमान है।⁷ शिवस्तोत्रावली में इसीलिये कहा गया है

कि विश्वोत्तीर्ण दशा में शिव (प्रकाश) तथा विश्वमय (विमर्श) दशा में शक्ति की प्रधानता परिलक्षित होती है, परन्तु परमार्थरूप से शिव, शक्ति एवं जगत्-तीनों में कोई भेद नहीं है।⁸ अतः स्पष्ट है कि अद्वैत शैव दर्शन में जगत् भी पराशक्ति का स्फुरण होने से सत्य है।

अद्वैत वेदान्त में जगत्-प्रपञ्च के मूलभूत तत्त्वों के विषय में कहा गया कि ब्रह्म ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता है। परन्तु माया द्वारा उपहित होने पर उससे (ईश्वर से) पाँच अपञ्चीकृत भूत-आकाश, वायु अग्नि, जल और पृथिवी-उत्पन्न होते हैं। इनके सात्त्विक अंशों की समष्टि से बुद्धि, मन अथवा (चित्त एवं अहङ्कार), व्यष्टि से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण) उत्पन्न होती है। इसी प्रकार रजस् की समष्टि से पाँच प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान (अथवा एवं नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय) तथा व्यष्टि से पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) उत्पन्न होती हैं। सूक्ष्म भूतों के पञ्चीकरण से पाँच स्थूल भूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पैदा होते हैं।⁹ इन सूक्ष्म एवं स्थूल भूतों के परस्पर अथवा पृथक्-पृथक् संयोगादि से ही समस्त महाप्रपञ्च की सृष्टि होती

1. “स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति”-

(प्र० ह०, सू० 2)

2. “स्वेच्छया न तु ब्रह्मादिवत् अन्येच्छया तयैव च, न तु उपादानाद्यपेक्षया, - एवं हि प्रागुक्तस्वातन्त्र्यहान्या चित्तमेव न घटेत्”-

(प्र० ह० टी०, सू० 2)

3. “विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति। उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्। इत्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् उक्तम्”-

(तदेव)

4. “त्रिशिरोभैरवः साक्षात् व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः”-

(तदेव, सू० 4)

5. “स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्”-

(शि० सू०, 3/30)

6. “छान्दोग्ये यथा जगतः ब्रह्माविवर्तसाधनाय- “यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्” - इत्यनेन चिद्विवर्तस्य प्रपञ्चस्य वाचारम्भणमात्रत्वात् चिन्मात्रमेव अवशिष्यते- (वे० सा०, पृ० 98)

7. “तेन शब्दार्थ चिन्तासु न सावस्था न या शिवः”- भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥ (स्प० का०, 3/2)

8. “क्वचिद् भवान् क्वचिद् भवानी, सकलार्थक्रमगर्भिणी प्रधाना। परमार्थपदे तु नैव देव्या भवतो नापि जगत्त्रयस्य भेदः ॥”

(शि० स्तो०, 18/2)

9. “तमः प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाशः.....पृथिवी चोत्पद्यते.....ज्ञानेन्द्रियपञ्चबुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकञ्चेति।.....स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि”

(वे० सा०, पृ० 34 तः 44)

है। माया से अभिभूत चैतन्य (ईश्वर) जगत् का निमित्त कारण और उपाधि (माया) की अपेक्षा से उपादान कारण है।¹

अद्वैत शैव दर्शन में भी मूलभूत एक ही पारमार्थिक तत्त्व आत्म-परमेश्वर को माना गया है। परन्तु सृष्टि विकास की दृष्टि से शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, सद्ब्रह्मा, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रायेँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच स्थूलभूतों के परिप्रेक्ष्य में 36 तत्त्व माने गये हैं। पराचिति जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण स्वयं है।²

शैव दर्शन में तत्त्वों का विकास एवं एकीकरण शिव के पञ्चकृत्यों के सतत विलासरूप में चलता रहता है, जो पूर्णतः उनकी परिपूर्ण स्वातन्त्र्यरूपा इच्छा शक्ति का ऐश्वर्य है। शक्ति अरि शक्तिमान् में भेद न होने से शिवादि धरणिपर्यन्त तत्त्वों के विकासरूप विश्वमय अथवा तत्त्व, भुवन, भाव, प्रमाताओं के एकरूप विश्वोत्तीर्णरूप में पूर्ण अभिन्नता रहती है। अतएव इस दर्शन को पराद्वैत अथवा परमाद्वैत सिद्धान्त कहना नितान्त युक्तियुक्त एवं वैज्ञानिक है।³ वेदान्त मत में माया एवं तज्जन्य जगत्-प्रपञ्च को ब्रह्म से पृथक् मानने पर द्वैतता और अभिन्न मानने से सर्वशक्तिमत्ता का आरोप होता है। अतः साररूप में यह मूलभूत प्रधान आक्षेप ही अद्वैत

शैव दर्शन की परिपूर्णता को सिद्ध कर देता है। बहुत कहने से क्या लाभ?

वेदान्त में मोक्ष प्राप्ति की दशा में वस्तुरूप ब्रह्म (आत्मा) में विवर्तित अवस्तु रूप अज्ञानादि प्रपञ्च (अनात्मरूप शरीरादि एवं जागतिक पदार्थों) का अपवाद (निषेध, निराकरण) परमावश्यक है, अन्यथा उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती।⁴ आचार्य गौड़पाद के अनुसार भी प्रपञ्च के रहते संशय का निवारण नहीं हो सकता है। क्योंकि संशय द्वैत में ही हो सकता है और यह द्वैत मायामात्र है, जबकि अद्वैत ही परमार्थ है।⁵ इसलिये न निरोध, न उत्पत्ति, न बद्ध, न साधक, न मुमुक्षु और न ही मुक्त प्रत्युत् अद्वैत तत्त्व ही परमार्थ है।⁶ विद्या (ज्ञान) सत् होने से मुक्ति के लिये है, और अविद्या (अज्ञान) असद्रूप होने से मिथ्या है एवं बन्धन की कारण है। इसके विपरीत अद्वैत शैव मतानुसार अविद्या विद्या का अभावरूप न होकर उसका परिच्छिन्न रूप है—
“परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किललक्षणम्।
जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते॥” —बो०पं०द०, 8; इस मत की परिपूर्ण पराद्वैत दृष्टि (पति दशा, मोक्ष अवस्था) में विद्या और अविद्या दोनों ही शिवात्मक रूप में अनुभव होती हैं।⁷ इस भूमि में सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष, चिति एवं जड़ घट-कुम्भवत् एकार्थ शब्द होते हैं— इसलिये वे भी एक (शिव रूप) ही होते हैं।⁸

1. “अज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति” (वे०सा०, पृ० 32)
2. “चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति—इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभावः”—(प्र०ह०टी०, सू०)
3. क) “इदं हि तत् पराद्वैतं भेदत्यागग्रहौ न यत्” (मा०वि०वा०, 1/123)
ख) “परमाद्वयदृष्टौ च सोऽपि नैव न संगतः” (तदेव, 2/28)
4. “अपवादो — वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्”— (वे०सा०, पृ० 66)
5. “प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तत न संशयः। मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परामार्थतः॥” (गौ०पा०का०, 1/18)
6. “न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥” (तदेव, 2/32)
7. “एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपतः। न भिद्येते न भेदो हि तत्त्वतः परमेश्वरे॥” (बो०पं०, श्लो० 14)
8. “अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः। घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दास्तेऽप्येकमेव च॥” (तं०आ०, 2/19)

अतः इस दर्शन में जगत् का निराकरण न होकर, प्रत्युत अपनी शक्ति के विकासरूप विस्फुरण होने से जगदानन्द की अनुभूति होती है।¹ वेदान्त के अनुसार श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि से ज्ञानपूर्वक आत्मसाक्षात्कार होता है, क्योंकि इससे अज्ञान और उसका प्रपञ्च नष्ट हो जाता है।² परन्तु अद्वैत शैव मत में शास्त्र, गुरु इत्यादि के उपदेशपूर्वक बुद्धि विषयक अज्ञान दूर होने से बौद्ध ज्ञान होता है। परन्तु इसके साथ ही अनुपाय

(परा पूजा)³, शाम्भवादि उपायों के अनुसरण, शक्तिपात अथवा परमसत्ता के अनुग्रहपूर्वक पुरुष विषयक अज्ञान दूर होने से पौरुष ज्ञान होता है। इन बौद्ध एवं पौरुष दोनों ज्ञानों की अनुभूति से ही आत्म-परमेश्वर के परिपूर्ण स्वातन्त्र्य की प्राप्ति होती है।⁴ वेदान्त की मुक्ति दशा मायापाश से रहित आत्मविलोकन पर्यन्त होने से आत्मव्याप्ति के धरातल पर स्थित है, जबकि शैवीमुक्ति माहेश्वर्य के चमत्कारपूर्वक शिवव्याप्ति की।⁵



1. "स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्"- (शि० सू०, 3/30)
2. एवंभूत ("अखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्") (वे०सा०, पृ०88)
- स्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्"- (तदेव, पृ० 95)
3. क) "एवमेव परा पूजा सर्वावस्थासु सर्वदा। ऐक्यबुद्ध्या तु सर्वेशे मनोदेवे नियोजयेत्"- (महा०उप०विं०श्लो० 20)
- ख) "न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्। एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।" (शि०स्तो० 1/1)
4. द्रष्टव्य, तं०आ०- (1/36 तः49)
5. पाशावलोकनं त्यक्त्वा स्वरूपालोकनं हि यत्। आत्मव्याप्तिर्भक्त्येषा शिवव्याप्तिस्ततोऽन्यथा ॥ सार्वज्ञ्यादिगुणायैऽर्थाव्यापकान्भावयेद्यदा शिवव्याप्तिर्भवेदेष्टा चैतन्ये हेतुरूपिणी ॥ (स्वच्छ० तं०, 4/434,35)

काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन के तत्त्व

डॉ० पुरुषोत्तम शर्मा *

भारत के लिए दर्शन केवल चिन्तन-सरणि नहीं हैं, अपितु जीवन-सरणि हैं। न ही यह निरर्थक कौतुहल से उत्पन्न हैं, और न ही यह एक बौद्धिक व्यायाममात्र हैं। अनादि काल से ही आध्यात्मिक क्षेत्र में सिद्धिसम्पन्न महापुरुष भारत में प्रकट होते रहे और दर्शन विद्याओं का विकास होता रहा है। भारत के उन दर्शनों को मुख्यतया दो भागों में बांटा जा सकता है। 1. वैदिक तथा 2. अवैदिक। प्रसिद्ध षट् दर्शन (सांख्य-योग-न्याय-वैशेषिक-मीमांसा-वेदान्त) वैदिक हैं। इन के सिद्धान्त वेदों और वैदिक उपनिषदों के आधार पर उभराए गए हैं। इसके विपरीत चार्वाक, बौद्ध, जैनादि दर्शन निर्विवाद ही अवैदिक दर्शन हैं। काश्मीर शैवदर्शन एक ऐसा दर्शन है, जो वैदिक धर्म को स्वीकार करते हुए भी अपने शुद्ध आगमिक स्वभाव को स्पष्टतया अपनाये रखता है। उसका यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि साधक को गर्भाधान से लेकर विवाह तक के समस्त संस्कारों को वैदिक विधानानुसार निभाना चाहिये।¹ वेदोक्त वर्णाश्रम धर्म और कर्मकलाप धर्म ही जनसाधारण के लिये सर्वोत्तम धर्म है। अतः काश्मीर शैव दर्शन वैदिक धर्म का परिपोषक है, किन्तु मोक्ष प्राप्ति के उपायों में से काश्मीर के शैवों ने वैदिकमार्ग की अपेक्षा कौलमार्ग, त्रिकमार्ग आदि आगमिक उपायों को ही अधिक सराहा है।²

काश्मीर की वसुन्धरा में पनपने वाले अद्वैतवादी

दर्शन को प्रत्यभिज्ञा शास्त्र भी कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त यह है कि "अज्ञान की निवृत्ति के पश्चात् आसपुरुषों के वचनों से जीव को ज्यों ही ज्ञान हो जाता है कि "मैं शिव हूँ" तुरन्त ही उसे आत्मस्वरूप शिवत्व का साक्षात्कार हो जाता है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा का अर्थ ही यह है कि अपने आप को जानना, पहचानना। जब साधक को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है तो शिव का साक्षात्कार भी हो जाता है। इसे "ईश्वराद्वयवाद" इसलिए कहा जाता है कि इसमें एक ही शिव (ईश्वर) से सृष्टि, स्थिति और संहार होता है। इसमें शिवमात्र ही केवल तत्त्व है। नट के तुल्य ईश्वर (शिव) अपनी इच्छा मात्र से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। अज्ञान, माया, जगत्, आत्मा आदि स्वेच्छा परिगृहीत रूप हैं। इस जगत् में सब शिवरूप है। शिव ज्ञाता और ज्ञेय, प्रमाता और प्रमेय, दोनों हैं। शिव अनुभवकर्ता भी है और स्वयं अनुभूत पदार्थ भी है। अपने अन्तर स्वरूप में ही निहित अद्भुत शक्ति के माध्यम से वही स्वयं ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट करता है।³ अतः इसमें शिव का प्राधान्य होने से शिव ही एकमात्र सत्ता है जिससे जगत् की उत्पत्ति होती है।⁴

तन्त्रालोक में स्पष्ट उल्लेख है कि जिस प्रकार उत्तम केसर की उत्पत्ति काश्मीर में होती है और उसकी सुगन्धि चारों तरह प्रसरित होती है ठीक उसी तरह शिव अद्वैत

1. गर्भाधानादितः कृत्वा यावदुद्गाहमेव च।
तावत्तु वैदिकं कर्म पश्चाच्छैवे ह्यनन्यभाक् ॥ तन्त्रा० पृ० २७८
2. वेदाच्छैवं ततोवामं ततो दक्षं ततः कुलम्।
ततो मत्तं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम ॥ तदेव पृ० ४९
3. स एव भगवान् स्वस्वातन्त्र्यादनतिरिक्ता.....। स्पन्द निर्णय पृ० १०.
4. तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः। स्पन्दकारिका, २/२९

* प्राध्यापक, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय जम्मू।

रसरूपी दर्शन की सैमुत्पत्ति तो काश्मीर से हुई है और उसकी सुगन्धि रूपी यश अन्यत्र फैला हुआ है।^१ काश्मीर शैव दर्शन के प्रवर्तक त्र्यम्बकादित्य हैं।^१ अद्वैत शैव दर्शन का बाङ्गमय तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है :- (क) आगमशास्त्र। (ख) स्पन्दशास्त्र। (ग) प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। (क) आगमशास्त्र - यह दैवी ज्ञान माना जाता है, जो कि गुरु शिष्य परम्परा से चला आया है। वसुगुप्त ने इनका मौखिक ज्ञान भट्ट कल्लट को दिया। शैवों की मान्यतानुसार अखिल शैवागमों का प्रादुर्भाव स्वयं परावाक् से होता है। संसार की सृष्टि करने के समय परावाक् शाक्ति में संनिहित परम सूक्ष्म ज्ञान उनकी इच्छा, ज्ञान तथा क्रियाशक्तियों में अभिव्यक्त होता हुआ शैवागमों के स्थूल रूप को धारण करता है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों के धारक होने से ही शिव को ईशान, अघोर, तत्पुरुष, सद्योजात् और वामदेव के रूप में पञ्चमुखी कहा जाता है। शिव के इन्हीं पञ्चमुखों से प्राचीनकाल में चौंसठ तन्त्र और शैवागमों का जन्म हुआ। उन आगमों में से ही एक प्रधान आगम वसुगुप्त का शिवसूत्र है।^१ (ख) स्पन्दशास्त्र- इसमें अद्वैत दर्शन के मुख्य सिद्धान्त हैं। स्पन्दशक्ति या तत्त्व परमशिव का नित्यस्वभाव है। परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति ही किञ्चित् चलनात्मक होने के कारण 'स्पन्द' नाम से अभिहित की जाती है। परमशिव चेतना का एक परिपूर्ण और असीम समुद्र है। स्वातन्त्र्य उस चेतना का स्वरूप है। यही उसका

अपूर्व विलास बन जाता है। विलास के ही कारण परमशिव को महादेव कहा जाता है। परमशिव 'चित्' रूप है। परमेश्वर में रहने वाली आनन्द की हलचल को ही उसके स्वातन्त्र्य के अनन्त वैचित्र्यमय विलास का बीज माना जाता है। शैवदर्शन में चैतन्य की इस आनन्दात्मक गतिशीलता को ही स्पन्द कहा जाता है। अतः स्पन्द शास्त्र इस दर्शन के साधना पक्ष से सम्बन्ध रखता है।^१ (ग) प्रत्यभिज्ञाशास्त्र- यह शैवदर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का मानव की तार्किक बुद्धि के लिए व्याख्या करता है।^१ इसमें आगम के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन हुआ है। इसमें तर्क, वाद-प्रतिवाद का प्रयोग किया गया है। इसके अनुसार जीव को स्वभावतः शिवरूप ही माना जाता है, जो अज्ञानवश पशु बन जाता है। अपने परमार्थ स्वरूप की पहचान (प्रत्यभिज्ञा) की दशा में वह पुनः शिवरूप ही हो जाता है।

काश्मीर शैवदर्शन के तत्त्व

परमार्थ:- परम=सर्वोच्च, अर्थ= वस्तु, इष्ट या लक्ष्य। अतः परमार्थ से यह ध्वनित होता है कि जो परमसत्ता या वस्तु है वही जीवन का परम लक्ष्य या इष्ट भी है। काश्मीर शैवदर्शनानुसार प्रकाश ही शिव एवं विमर्श ही उसकी शक्ति-या स्वातन्त्र्य है। जिस प्रकार पुष्प एवं उसका सुगन्धित्व, जल एवं उसका शीतलत्व, आग एवं उसका उष्णत्व कदापि पृथक् नहीं होता है, ठीक उसी भाँति शिव और शक्ति में सदा अभिन्नता रहती है।

5. श्री सोमानन्दपादप्रभृतिगुरु.....। कश्मीरेभ्यः प्रसृत्य प्रकटपरिमलोरंजयन् सर्वदेशान् देशेऽन्यस्मिन् दृष्टो घुसृणु विसरबत्सर्ववन्धत्वमाप.....। तन्त्रा० लो० विवेकपुष्पिका-७
6. आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहितृ क्रमात्।
स चार्ध त्र्यम्बकाभिख्यः सन्तानः सुप्रतिष्ठितः। तं० आ० ३६-११-१२, तदेव ३६-१३/तदेव ४-२४८, ४९
7. तन्त्रालोक टी० पृ० ३४,
"श्रीमन्महादेव गिरौवसुगुप्तगुरोः पुरा।
सिद्धादेशात् प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि ॥" शिव सूत्र वा० १-३।
8. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, भूमिका पृ० ४, ५।
9. तन्त्रालोकविवेक, भूमिका।

काश्मीर शैवदर्शन में विश्वकारण परमशिव की ही एकमात्र सत्ता स्वीकार की गई है। शिव अनुभव कर्ता भी है और स्वयं अनुभूत पदार्थ भी है, क्योंकि वह अनुभव करने वाला आत्मा और अनुभूत होने वाला जगत् दोनों है।¹⁰ शिव विश्वमय है, क्योंकि वास्तव में विश्व शिव की शक्तियों का ही विकासरूप है।¹¹ परमशिव 'पूर्णाहम्' एवं सर्वोच्च है, जो समस्त वस्तुओं को अपने अन्दर समाहित किये हुए है।¹² वह सृष्टि-स्थिति-संहार-निग्रह एवं अनुग्रह रूप पाँच कार्यों को सतत् करता रहता है। परमसत्ता को निर्गुण और सगुण दोनों कहा जा सकता है और उसमें चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, और क्रिया आदि शक्तियाँ रहती हैं।

जीव—इस दर्शनानुसार जीव मन और शरीर का पुतलामात्र नहीं है। जीव शिवरूप होता और शिव जीव से कर्म करवाता है इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि शिव हाथ पकड़ कर जीव से कार्य करवाता है, अपितु शिव कर्म करने के लिए अभिप्रेरित करता है। अतः वास्तविक कर्ता शिव ही है, किन्तु कर्म करने की जिम्मेदारी जीव पर है शिव पर नहीं। जैसे पुत्र जो भी खर्च करता है, सारा धन पिता देता है, किन्तु उस धन को किस प्रकार खर्च करना है इसकी जिम्मेदारी पुत्र पर है। ठीक उसी प्रकार जीव जो भी खर्च करता है उसकी सम्पूर्ण शक्ति परमेश्वर शिव से आती है, किन्तु उस शक्ति का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करना जीव

पर निर्भर है। अतः पाप-पुण्यादि कर्म जीव स्वयं करता है। शिव ही बन्धन की दशा में मोहादि में फँस कर जीव बन जाता है और मोक्षादि की दशा में वही जीव शिव बन जाता है। अतः अपने स्वरूप को भूलना जीव एवं अपने स्वरूप को पहचानना ही शिव है। अतः पारमार्थिक दृष्टिकोण से जीव शिव ही होता है।¹³

जगत्—काश्मीर शैव मतानुसार यह जगत् सत्य है मिथ्या नहीं है। जैसे बरगद का बड़ा वृक्ष अपने बीज में शक्ति रूप में विद्यमान रहता है, ठीक उसी प्रकार यह चराचर विश्व शक्ति रूप में महेश्वर के हृदय (विमर्श) में विद्यमान रहता है।¹⁴ महेश्वर की शक्ति को ही चिति, पराशक्ति, या परावाक् कहते हैं। अतः परमशिव "प्रकाश विमर्शमय है।¹⁵ उस दशा में अहम् (मैं) और इदम् (यह), शिव और विश्व एक अभिन्न ऐक्य में होते हैं। "अहम्" प्रकाशरूप है और अहम् का अहं रूपेण अनुचिन्तन विमर्श रूप है। यही विमर्श स्वातन्त्र्य या अवाधित शक्ति है। सृष्टि की अभिव्यक्ति एवं प्रलय का क्रम शिव और शक्ति, प्रकाश और विमर्श का प्रसार और संकोच है। चैतन्य की अभिव्यक्ति के ये विभिन्न रूप छत्तीस तत्त्वों में वर्णित हैं। शिव जगत् उत्पन्न करने की इच्छा करता है। अतः सृष्टि का प्रारम्भ वस्तुतः सदाशिव से होता है, और शिवशक्ति ही इस सृष्टिक्रम के कर्ता हैं। अपरिमित अनुभव के तत्त्व—

१. शिवतत्त्व - परमशिव के दो प्ररूप हैं ।

10. भोक्तैव भोग्यभावेन सर्वत्रावस्थितः, स्पन्द का० २/२९

11. स्वशक्तिप्रचयोस्य विश्वम्- शि०सू० ३/३०

12. अस्थास्यदेवतत्त्वेण वपुषा चेन्महेश्वरः।

महेश्वरत्वं संवित्वं तदत्यक्षद् घटादिवत्। तं लो० ३/१००

13. शक्तिदरिद्रः तु संसारी शक्तिविकासे तु शिव एव ॥ प्रत्यभिज्ञाहृदयम् पृ० १०५,

तथा तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति- नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने- प्र०ह०सू० १०

14. यथान्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।

तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ॥ (पराप्रवेशिका में क्षेमराज द्वारा उद्धृत)

15. तन्त्रा० श्लो० ३/१००

विश्वोत्तीर्ण और II विश्वमय। उसका विश्वमय सर्जनात्मक रूप है। यह विश्वमय सर्जनात्मक रूप शिवतत्त्व कहलाता है। शिव तत्त्व परमशिव का स्पन्द है यथा-यदयमनुत्तरमूर्तिनिजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्त्रुण्णस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः।¹⁶ अर्थात्-परमशिव अपनी इच्छा से जगत् के सर्जन के लिए स्पन्दमान होता है तो उसका आद्यस्पन्द 'शिवतत्त्व' कहलाता है। परमेश्वर समस्त विश्वरूपी वृक्ष का बीज है। उस बीजात्मक परमेश्वर में उसी के स्वभावभूत स्वातन्त्र्य के विलास से जब स्पन्दन होता है तो पहले प्रकाशमान शिवतत्त्व का और विमर्श प्रधान शक्तितत्त्व का आविर्भाव हो जाता है। इन दो तत्त्वों में परमशिव की चित् शक्ति और आनन्दशक्ति अभिव्यक्त हो जाती है।¹⁷ स्पन्द की उत्तर गति से इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति को शक्तितत्त्व का पूर्ण विकास कहा जा सकता है।¹⁸ प्रत्येक जीव में रहने वाला शिव तत्त्व ही आत्मतत्त्व है।¹⁹

२. शक्तितत्त्व - यह शिव की ही शक्ति है। शक्तितत्त्व में महेश्वर के आनन्द का प्राधान्य है।²⁰ शिव ही अपने हृदय के इच्छा-ज्ञान-क्रिया रूपी त्रिकोण के माधुर्य से परिवर्धित उल्लास द्वारा अपने में ही स्थित विश्व को ईक्षण करने के लिए उन्मुख होने पर शक्ति

स्वभाव वाला कहलाता है।²¹ शिव और शक्ति तत्त्व कदापि पृथक् नहीं रह सकते। वे सृष्टि और संसार दोनों में संयुक्त रहते हैं-शिव ईक्षिता के रूप में और शक्ति आनन्द के रूप में। वस्तुतः शिव और शक्ति तत्त्व आभासमात्र नहीं है अपितु समस्त आभासों का बीज है।

३. सदाशिव तत्त्व (सादाख्य तत्त्व)- सदाशिव में इच्छा का प्राधान्य है। जब शक्ति में उन्मेष होता है तब सृष्टि होती है और जब निमेष होता है संसार का लय हो जाता है। इसी उन्मेष के कारण 'सदाशिव' तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। इस अवस्था में अनुभव का प्रत्यय 'अहम्' शिव का परिचायक है और 'इदम्' विश्व का। इस दशा में 'इदम्' अंश अस्फुट रहता है²² और 'अहम्' अंश का प्राधान्य रहता है। 'अहम्' इदम् को आच्छादित किये रहता है। अतः जगत् का अव्यक्त रूपेण भान होता है। जैसे किसी कलाकार के मन में चित्र निर्माण के पूर्व चित्र की कल्पनामात्र रहती है वैसे ही सदाशिव स्थिति में अनुभव का 'इदम्' अंश धुंधले विचार के रूप में रहता है।²³ अभिव्यक्ति के लिए एक विषयी और एक विषय की परम आवश्यकता होती है। सदाशिव तत्त्व में दोनों हैं। 'अहम्' में चेतना की प्रमुखता होती है। जगत् का आभास 'अहम्' अंश में लुप्तप्राय होने से इस तत्त्व को प्रलय का प्रतीक और निमेष भी कहा जाता है।

16. षट्त्रिंशत् तत्त्व- सन्दोह पृ० १ श्लो० १

17. (क) स्वरूपानुप्रविष्टचिन्निर्वृतिरूपशक्तिद्वयः।

प्रकाशानन्दमयः पूर्णपरमेश्वरः शिवः ॥ शिव दृ० वृ० १-२६।

(ख) आत्मैवसर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतिचिद्विभुः।

अनिसद्देच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ॥ (शिव दृ० १-२)

18. (क) तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छक्तिमात्रके विभक्तिरूपम्.....। शिव दृ० १-२९, ३०

(ख) चित्प्राधान्ये शिवतत्त्वम्। तन्त्रसार पृ० ७४

19. "चैतन्यमात्मा" शिवसूत्र १.१

20. "आनन्दोच्छलिताशक्तिः सृजत्यामानमात्मना" ॥ उत्पलदेव शि० स्तो० टी०

21. स एव विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखो भवेत्।

शक्तिस्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः ॥ महेश्वरानन्द महार्थ मञ्जरी पृ० ४०

22. सदाशिवतत्त्वेऽहन्ताच्छादितास्फुटे दन्तामयं विश्व। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

23. तत्र प्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्य अस्फुटत्वात् इच्छाप्राधान्यम् ॥ षट् त्रिंशत् तत्त्वसन्दोह पर राजानक आनन्द का विवरण पृ० ३

४. ईश्वरतत्त्व - ईश्वर की इच्छा का वहिर्मुख स्पन्द ईश्वरतत्त्व कहलाता है। इस तत्त्व की अभिव्यक्ति शिवेच्छा में क्रियाशक्ति के उद्रेक से होती है।²⁴ इसमें इदमंश और अधिक स्फुट हो जाता है। 'अहम्' अंश गौण रहता है और 'इदम्' अंश की ओर ज्ञानशक्ति की प्रधानता रहती है।²⁵ जैसे चित्रकार के मन में प्रदर्श्य चित्र की पहले एक धुंधली सी रूपरेखा होती है, फिर चित्र निर्माण करते समय उसका अधिक स्पष्ट रूप सामने आने लगता है, वैसे ही सदाशिव की अवस्था में ब्रह्माण्ड का एक धुंधला विचार होता है किन्तु ईश्वर की स्थिति में सृष्टि रचना का विचार स्पष्ट हो जाता है। वेदान्त का ईश्वर प्रकृति के साथ सम्बन्ध रखते हुए सगुण रूपों में ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र बनकर प्रकट होता है किन्तु शैवदर्शन में ईश्वर भट्टारक को माया भी स्पर्श नहीं करती और उसका स्वरूप अशरीर ही होता है। सदाशिव का परामर्श है 'अहम् इदम्' ईश्वर का परामर्श है 'इदम् अहम्'।

५. शुद्ध विद्यातत्त्व अथवा सद्विद्या - समाधृत तुलापुट न्यायेन सद्विद्यातत्त्व में अहम् और इदम् दोनों परामर्श तुल्य होते हैं। इस स्तर पर क्रियाशक्ति की प्रधानता होती है।²⁶ यद्यपि अब भी अहम् और इदम् दोनों एक सम हैं तथापि दोनों की पृथक् विशिष्टता प्रतीत होती है, और इदम् अहम् का अंग ही जान पड़ता है। शुद्ध विद्यातत्त्व²⁷ में दोनों पदों का परामर्श समान रूप से होता है। 'अहम् अहम्' इदम् इदम् या अहं च

इदं च। इस अवस्था तक सभी परामर्श मानसिक होते हैं। यहाँ तक महेश्वर का स्वरूप गोपन नहीं होता।

शुद्ध अहम् - वस्तुतः शिव ही सर्वत्र कर्ता है, यदि जीव भी कभी अपनी इच्छानुसार कुछ कर लेता है, तो मूलतः शिव की इच्छा की प्रेरणा से और उसी की नियतिशक्ति के नियमानुसार कर लेता है। तथापि शिव ने अपनी स्वतन्त्र कर्तृत्व शक्ति का थोड़ा सा अंश अपने शिवभाव में अवस्थित स्वरूप को भी दे रखा है। इन्द्रादि देवगण और ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र इसी प्रकार के अंश हैं। परिमित अनुभव के तत्त्व :-

६. माया - इसमें महेश्वर का स्वरूप गोपन माया²⁸ और उसके कंचुकों द्वारा होता है। माया-मापना, परिमित कर देना, माप का पृथक् कर देना। जो अनुभव को परिमित बना देती है।²⁹ अहम् को इदम् से तथा इदम् को अहम् से पृथक् कर देती है, भेद उत्पन्न कर देती है, वस्तुओं को एक दूसरे से अलग कर देती है, वह माया है।³⁰ सद्विद्या तक अनुभव सार्वभौमिक होता है। "इदम्" का भाव होता है "यह सब कुछ" - समस्तविश्व, किन्तु माया के प्रभाव से 'इदम्' का अर्थ हो जाता 'केवल यह' अन्य सब वस्तुओं से भिन्न एक परिमित वस्तु। माया आत्मा पर एक आवरण डाल देती है तथा भेद बुद्धि उत्पन्न कर देती है। माया के परिणाम पाँच कंचुक हैं-

24. (क) वहिर्भावस्य क्रियाशक्तिमयस्य परत्वे उद्रेकाभासे सति पारमेश्वरं शब्दवाच्यमीश्वरतत्त्वं नाम ॥ ई० प्र० वि० भा० पृ० १९२
(ख) अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः ॥ राजानक आनन्द विवरण

25. ज्ञानशक्ति प्राधान्ये ईश्वरतत्त्वम्-

तन्त्रासार पृ० ७४

26. क्रियाशक्तिप्राधान्ये विद्यातत्त्वम्-

तन्त्रासार

27. अथ तदधिष्ठातृद्वयगतं करणं विद्यातत्त्वमाह ॥

ई० पृ० वि० ३-१, ३ तथा ई० पृ० ३-२, ६, ७

28. भिन्नवेद्य प्रथाऽत्रैव मायाख्यं...

ई० पृ० २-२, ४

29. तिरोधानकरी मायाभिधापुनः ॥

(ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य)

30. परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी।

अपूर्णा प्रथनेन मीनाति हिनास्ति इति माया शक्तिः उच्यते ॥

तं लो० टी० भा० ६, पृ० ११६ है

७. कला- परमेश्वर का स्वरूप गोपित होने पर, अणु बनने पर जिसके द्वारा उसका सर्वकर्तृत्व संकुचित होकर किञ्चित्कर्तृत्व में परिणत हो जाता है, उसे कला कहा जाता है।^{११}

८. विद्या - जिसके द्वारा परमेश्वर का सर्वज्ञत्व संकुचित होकर किञ्चित् ज्ञत्व में परिणत हो जाता है।^{१२} उसे विद्या कहा जाता है।

९. रागः - परमेश्वर की पूर्णतृप्ति जिसके द्वारा संकुचित होकर यत्किञ्चित् भोगों में आसक्त हो जाती है, उसे राग कहा जाता है।^{१३}

१०. काल- परमेश्वर का नित्यत्व जिसके द्वारा संकुचित होकर भूत, वर्तमान और अनागत में परिच्छिन्न हो जाता है उसे काल कहा जाता है।^{१४}

११. नियति- परमेश्वर का स्वातन्त्र्य जिसके द्वारा संकुचित होकर विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट कारण का नियम धारण करता है और उसका व्यापकत्व संकुचित होकर किसी विशिष्ट देश में परिच्छिन्न हो जाता है तो उसे काश्मीर शैव दर्शन में नियति कहा जाता है।^{१५} उपर्युक्त कला आदि पाँच कञ्चुकों के समेत माया सांसारिक प्रमाता का छठा कञ्चुक काश्मीर शैव दर्शन मानता है।

१२. पुरुष तत्त्व - इन छः कञ्चुकों के भीतर लिपटी हुई और इस तरह से संकुचित बनी हुई संवित् को ही पुरुष तत्त्व कहते हैं, तथा शून्य भी इसी का नाम है। शिव जब कञ्चुकों सहित माया को स्वीकार कर लेता है तब उसका ऐश्वर्य और सार्वभौम ज्ञान संकुचित हो जाता है और वह पुरुष एक परिमित व्यक्ति बन जाता है।^{१६} आत्मस्वभाव की पूर्णता की अभिव्यक्ति हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है।^{१७}

१३. प्रकृति - सद्विद्या की 'अहं च इदं च' की जो अनुभूति है उसमें से 'अहम्' अंश की अभिव्यक्ति पुरुष है और 'इदम्' अंश की अभिव्यक्ति प्रकृति है। प्रकृति अपने गुणों की साम्यावस्था में रहती है काश्मीर शैवदर्शन और सांख्य दोनों ही प्रकृति को सत्त्व, रजस् और तमस् की अक्षुब्ध दशा मानते हैं।^{१८} और जिस के परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण प्रमेयों को सुख-दुःख एवं मोहात्मक माना गया है।^{१९} प्रकृति शिव की सान्ताशक्ति है और सत्त्व, रजस् और तमस् उनकी ज्ञान, इच्छा और क्रिया शक्ति के स्थूल रूप हैं। पुरुष, भोक्ता और प्रकृति भोग्या है। काश्मीर शैव दर्शनानुसार प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक्-पृथक् प्रकृति हैं।^{२०}

31. (क) तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपदार्थमात्रपरा।

किञ्चित्कर्तारमुमं कलयन्ती कीर्त्यते कलानाम॥

(ख) कलाविद्याराग काल नियतिर्बन्ध उच्यते॥

षट् त्रिं० तत्त्वसन्दोह श्लो०८

अनुत्तर प्रकाश पञ्चाशिका, श्लोक १६

32. सर्वज्ञ तस्यशक्तिः.....बुधैराद्यैः निगद्यते। ष० त्रिं० त० सं० श्लोक ९

33. रागोऽपि रंजयत्येन स्वभोगेष्वशुचिष्वपि। मालिनी विजय तन्त्र० १/२८

34. (क) सेयं इत्थं भूताभासवैचित्र्यप्रथनशक्तिः भगवत् कालशक्तिः इत्युच्यते॥ ई०प्र०वि०आ० २ पृ०१३ ,

(ख) क्रम एव च कालो - तदेव पृ० १

35. नियति ममेदं कर्तव्यं इति नियमन हेतुः। प०परा पृ० ९

36. मायागृहीतसंकोचः शिवः पुंस्तत्त्वमुच्यते। अनु०प्रकाश पञ्चाशिका श्लो० २२, तथा तं० टी० भा० ६, पृ०१५६

37. स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः.....पूर्ण त्वाभावेन परिमितावादणुत्वम्। प्रत्य०हृदय भूमिका पृ० १४

38. भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेशः प्रकृतिकोभयेद् कृशमः। तं० लोक ६, १, - २२५

39. तावदेष एव सुखदुःखमोहात्मकं भोग्य विशेषानु.....प्रकृति तत्त्वस्यसर्गः तं० सा० पृ० ८३

40. तच्च प्रतिपुन्यितत्वात् अनेकयः। तं० लो० ६, पृ० १७२

मानस व्यापार के तत्त्व- (बुद्धि, अहङ्कार और मनस्)

१४. बुद्धि तत्त्व - प्रकृति के विशेष हैं- अन्तःकरण, इन्द्रिय एवं भूत।

अवान्तर प्रलय के काल के समाप्त हो जाने पर जब श्री कण्ठनाथ के नए दिन का प्रारम्भ हो जाता है तो वे मूलप्रकृति में पुनः क्षोभ उत्पन्न करके गुणतत्त्व को प्रकट कर देते हैं।^१ उससे प्रकृति के परिणाम द्वारा गुणों में विषमता के आ जाने से पहले पहल मूल प्रकृति अन्तःकरणों^२ के रूप में प्रकट हो जाती है। उनमें भी सब से पूर्व सत्त्वगुणप्रधान महत् (बुद्धि) तत्त्व प्रकट हो जाता है। बुद्धि प्रकृति का प्रथम तत्त्व है। बुद्धि के दो प्रकार के अनुभव हैं- १. बाह्य, जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है, यथा घट, २. आन्तरिक-संस्कारों द्वारा उद्भूत कल्पनाएँ।

१५. अहङ्कार - "यह मेरा है" "ये मेरा नहीं है" - इस प्रकार अभिमान का साधन "अहङ्कार" तत्त्व है। अहङ्कार बुद्धि का परिणाम है।

१६. मनस् तत्त्व - यह अहङ्कार का परिणाम है। "करूँ या न करूँ" इस प्रकार यह इन्द्रियों के सहयोग से प्रत्यक्ष का अनुभव करता है और संकल्प विकल्प करता रहता है। प्रत्यक्ष करने के तत्त्व -

१७-२१ पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ - ये अहङ्कार के परिणाम हैं- १७. श्रोत्रेन्द्रिय, १८. स्पर्शेन्द्रिय, १९. चक्षुरिन्द्रिय, २०. रसनेन्द्रिय, २१. घ्राणेन्द्रिय।

२२-२६ पञ्च कर्मेन्द्रियाँ - ये भी अहङ्कार के परिणाम हैं। २२. पायु (इन्द्रिय) २३. उपस्थ (इन्द्रिय),

२४. हस्तेन्द्रिय, २५. पादेन्द्रिय, २६. वागिन्द्रिय। ये समस्त इन्द्रियें शक्तियाँ हैं जो भिन्न-भिन्न इन्द्रियावयवों द्वारा अपना कार्य करती हैं।

२७-३१ पञ्चतन्मात्राएँ - ये भी अहङ्कार के परिणाम हैं। ये निम्नलिखित हैं- २७. शब्दतन्मात्रा, २८. स्पर्शतन्मात्रा, २९. रूपतन्मात्रा, ३०. रसतन्मात्रा और ३१. गन्धतन्मात्रा।

३२-३६ भौतिक तत्त्व - (पञ्चमहाभूत) ये पञ्चमहाभूत पञ्चतन्मात्राओं के परिणाम हैं- ३२. शब्दतन्मात्रा का परिणाम है-आकाश। ३३. स्पर्शतन्मात्रा का परिणाम है वायु। ३४. रूपतन्मात्रा का परिणाम है तेज। ३५. रसतन्मात्रा का परिणाम है-जल। ३६. गन्धतन्मात्रा का परिणाम है - पृथ्वी।

उपरिलिखित २४ तत्त्वों अर्थात् प्रकृति से पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वों के विकास के विषय में सांख्य दर्शन और काश्मीर शैव दर्शन में सहमति है। अन्तर केवल मात्र यह है कि सांख्य दर्शनानुसार ये तत्त्व प्रकृति के विकास हैं, किन्तु काश्मीर शैव दर्शनानुसार ये तत्त्व प्रकृति का विकास होते हुए भी अन्ततोगत्वा परमशिव की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। निष्कर्षरूपेण काश्मीर शैव दर्शनानुसार सृष्टि के समस्त परमशिव की ही विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न रूप हैं, इनका अपना कोई स्वतन्त्र रूपेण अस्तित्व नहीं है।

इतिशुभम्।

डॉ. पुरुषोत्तम शर्मा, प्राध्यापक
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू



४१. स च क्षोभः प्रकृतेः तत्त्वेशाधिष्ठानादैव।

अन्यथा नियतं पुरुषं प्रतानि न।

४२. अन्तःकरण का अर्थ है आन्तरिक साधन। इसमें बुद्धि, अहङ्कार और मनस् अन्तर्भूत हैं।

अनुत्तर प्रकाश पञ्चाशिका का दार्शनिक पक्ष

डॉ० सुषमा गुप्ता*

‘अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका’ ग्रन्थ भावोपहार की काश्मीर सीरीज के भाग 14 में प्रकाशित है। इस ग्रन्थ के प्रणेता आद्यनाथ कहे जाते हैं। आद्यनाथ के समय और शिष्य-परम्परा के विषय में निश्चित तथ्यों का प्रायः अभाव है। के०एस०नागराजन ने आद्यनाथ को “अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका” नामक कृति का कर्ता स्वीकार किया है। यह ग्रन्थ पद्यात्मक रूप से बावन श्लोकों में निबद्ध है किन्तु जैसा कि इस ग्रन्थ के नाम से विदित होता है—“पञ्चाशिका” अर्थात् पचास। इसकी पचास कारिकाएं अनुत्तर तत्त्व की व्याख्या प्रस्तुत करती हैं इसमें एक कारिका एक पद की है। सम्भवतया प्रतिलिपिकार की असावधानी से कारिका का एक पद छूट गया हो। अन्तिम कारिका उपसंहार रूप में निबद्ध है।

अकृत्रिमाहमामर्श प्रकाशैकघन : शिवः।

शक्त्या विमर्शवपुषा स्वात्मनोऽनन्यरूपया ॥

शिव नैसर्गिक अथवा स्वाभाविक “अहम्” के आमर्श वाला है और प्रकाशैकघन है अर्थात् इसका स्वरूप प्रकाशात्मक है यही इसकी प्रकाश के साथ घनिष्ठता है। शिव को प्रकाश से भिन्न नहीं किया जा सकता इसी अर्थ में वह प्रकाशैक घन है। विमर्श के स्वरूप वाली शिव की एक अभिन्न शक्ति है जिससे शिव तत्त्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों का आविर्भाव होता है।

इस विमर्शात्मक शक्ति के द्वारा ही परमशिव “शिव कहलाते हैं, अन्यथा वह शव रूप है। इसी शक्ति के बल पर सृष्टि की रचना करने में समर्थ होता है। यह परमशिव पूर्णाहन्ता, चमत्कारमय, सभी तत्त्वों से उत्तीर्ण, महाप्रकाशात्मक शरीर वाला चैतन्य स्वरूप है।” यह शिवत्व प्रत्येक जीव में रहने वाला “आत्मतत्त्व” है। यह चैतन्य स्वरूप है।¹ इसे परा, संवित्, परमेश्वर, शिव, अनुत्तर या परमशिव आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। इस प्रकार प्रथम कारिका में शिव के प्रकाशात्मक स्वरूप का परिचय दिया गया है एवं उसकी विमर्शात्मक शक्ति द्वारा जगत्तोत्पत्ति का उल्लेख किया गया है तथा द्वितीय कारिका में छत्तीस तत्त्वों वाले विश्व की उत्पत्ति एवं परम शिव के पंचकृत्यों का निरूपण किया गया है।

पृथगर्थमर्थवत्ता विश्वविश्वशरीरयोः।

न विश्वविश्ववपुषोर्भिन्ना तात्त्विकी ॥

विश्व और विश्व शरीर की पृथक्-2 अर्थ के रूप में सार्थकता है। वस्तुतः विश्व और विश्व शरीर में तात्त्विक रूप में कोई भिन्नता नहीं है।

विश्व और विश्व शरीर दो विभिन्न वस्तुएं होते हुए भी एक हैं क्योंकि यह एक परमशिव से ही उत्पन्न हुए हैं। परमशिव अपने विमर्श रूपी शरीर से ही छत्तीस तत्त्वों को उद्गलित करके विश्व की सृष्टि करता है। इस प्रकार एक परमशिव ही अपने से दूसरी भिन्न वस्तु

1. क) पूर्णाहन्ता चमत्कारमय सर्व तत्त्वोत्तीर्ण महाप्रकाश वपुः

यत् चैतन्यम् एतदेव शिव तत्त्वम्।

(प० सा०वि०, पृ०-41)

ख) सर्वप्रमातृणामन्तः परिस्फुरत्पूर्णाहन्ता चमत्कारमयं सर्वतत्त्वोत्तीर्ण सकलतत्त्वराशिगत सृष्टि संहारशतसहस्र प्रतिबिम्बनसहिष्णु महाप्रकाश वपुः शिवतत्त्वम्।

(प०प्र० पृ० 6)

ग) यदयमनुत्तरमूर्ति निजेच्छयाखिलमिदं जगत्त्रष्टुम।

पश्यन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥

(ष०त०स०, श्लोक-1)

2. चैतन्यमात्मा, शिवसूत्र-1-1

* प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

उत्पन्न करता है। इस रूप में विश्व और विश्व शरीर दोनों ही सार्थक हैं।

इति षडधिकत्रिशदभेदप्रसक्त जगत्तनुः।
प्रसरति महाशक्त्युल्लेखविचित्र महापटी॥
जयति बहुशः स्पन्दाकारा परा चिदनुत्तरा।
विमर्शत जनाः किं नो भूयः स्वभावविजृम्भितम्॥

इस प्रकार 36 तत्त्वों के भेद से युक्त यह जगद् रूपी शरीर है जो कि प्रसार को प्राप्त होता है। महाशक्ति के उल्लेख से युक्त यह विचित्र महामार्ग है। अनेक प्रकार के स्पन्दों के आकार वाली “परा चित् अनुत्तरा” जयशीला है। विमर्शपरायण मनुष्य के लिए पुनः अपने स्वभाव का विस्तार प्राप्त होता है।¹

ग्रन्थ के उपसंहार की द्योतक यह अन्तिम कारिका इस दर्शन के अभीष्ट सिद्धान्तों को सार रूप में प्रस्तुत करते हुए यह प्रतिपादित करती है कि यह समस्त विश्व शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों का समूह है। ये समस्त तत्त्व परमशिव से ही उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं कहने का भाव यह है कि इस विश्व में जो कुछ भी भासित होता है वह परम शिव का ही रूप है। यह दर्शन एवं इसके सिद्धान्त एक वैचित्र्यपूर्ण महामार्ग है।

इस दर्शन में अनुत्तरा शक्ति जो कि एक महती शक्ति है वह अत्यन्त प्रकृष्ट है तथा स्पन्दरूपा है। अनुत्तरा परमशिव की उस शक्ति का नाम है जो उसमें अविभाज्य रूप से विद्यमान रहती है। इसी के बल पर वह अपने कार्यों को सम्पन्न करता है और इसी के द्वारा पांच स्पन्दों सृष्टि, स्थिति संहार विलय और तिरोधान को करता रहता है। जो व्यक्ति परमशिव से उत्पन्न होने वाले इस जगत् के प्रति विमर्श करता है और इस समस्त

प्रपञ्च के कारणभूत अनुत्तर तत्त्व को जान लेता है वह पुनः अपने मूल स्वभाव को प्राप्त होता है अर्थात् वह अपने जीव रूप को शिव के स्वरूप के रूप में पुनः जान लेता है। इस प्रकार वह भोगी जन्म-मरण के चक्कर से छूट कर परम धाम में विश्राम करता है।

पचास कारिकाओं की परिधि में घिरा हुआ “अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका” नामक ग्रन्थ अनुत्तर तत्त्व की व्याख्या करते हुए वस्तुतः अपने नाम को सार्थक करता है। सामान्यतया शैव दर्शन शिव से लेकर क्षिति पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के वैशिष्ट्य की उद्घोषणा के प्रति जागरूक रहा है। जबकि कौलमत सैंतीसवे तत्त्व की अर्थात् “अनुत्तर” तत्त्व की विवेचना द्वारा अपने सैद्धान्तिक चरम को उद्भावित करता है। “अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका” भी सृष्टि-प्रक्रिया से आरम्भ करते हुए अनुत्तर तत्त्व के स्वरूप को प्रकाशित करता है। इस तत्त्व के उत्तर में अर्थात् परे किसी अन्य तत्त्व की सत्ता नहीं रहती इसलिए यह तत्त्व “अनुत्तर” तत्त्व के नाम से अभिहित होता है। यही परमोच्च सत्ता या तत्त्व है।

“अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका” काश्मीर शैव दर्शन के प्रसिद्ध 36 तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय देती है, अनुत्तर तत्त्व की मीमांसा करती है। इसमें वस्तुतः आद्यनाथ ने “सत्यकार्यवाद” के सिद्धान्त की स्थापना करनी चाही है। इस ग्रन्थ के माध्यम से आद्यनाथ ने सृष्टि का क्रम तथा पुनः उसके विलोपन की प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। केवल मात्र पचास-कारिकाओं में सैद्धान्तिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना काश्मीर शैव दर्शन में निःसन्देह एक कठिन कार्य है जिसमें लेखक को किसी सीमा तक सफलता मिली है।



1. क). अन्तर्विभाति सकल जगदात्मनीह, यद्वद्विचित्ररचना मुकुरान्तराले।

बोधः परं निजविमर्शसानुवृत्त्या, विश्वं परामृशति जो मुकुरस्तथा तु॥

ख) ष० त० स० श्लोक-1

शाङ्कर वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन में कर्तव्य

डॉ० बीना अग्रवाल *

काश्मीर शैव दर्शन एवं वेदान्त दोनों दर्शन आगम एवं निगमों (वेद) की पूर्व परम्परा पर प्रतिष्ठित हैं। 8वीं शती के उत्तरार्ध एवं नवीं शती के प्रारम्भ में दक्षिण में शांकर वेदान्त और उत्तर में काश्मीर शैवदर्शन के माध्यम से अद्वैतवाद का प्रादुर्भाव एवं व्यवस्थित दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में स्थापना हुई। सृष्टि, सृष्टिकर्ता, जीव अथवा आत्मा के स्वरूप की आदिकालीन जिज्ञासा के समाधान का प्रयत्न सभी दर्शन करते हैं, किन्तु अद्वैतवादी दर्शनों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे सृष्टि में उपलब्ध, सर्वमान्य जड़ चेतन के द्वैत की व्याख्या एक परम तत्त्व के माध्यम से करें। इस व्याख्या के प्रकार भेद से ही सिद्धान्तों एवं दर्शनों में अन्तर उत्पन्न होता है। प्रस्तुत लेख में दोनों अद्वैतवादी दर्शनों में कर्ता के स्वरूप की मीमांसा-परमतत्त्व एवं जगत् का स्वरूप, दोनों का परस्पर सम्बन्ध, परम प्रमाता और सीमित प्रमाता का स्वरूप और सम्बन्ध, कर्ता का स्वरूप, पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड के स्तर पर उसका स्वातन्त्र्य एवं उत्तरदायित्व आदि बिन्दुओं के विवेचनपूर्वक प्रस्तुत है।

वेदान्त दर्शन का परमतत्त्व ब्रह्म है। ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का वर्णन संहिताओं में प्रारम्भ होकर उपनिषदों में विस्तार को प्राप्त करता है एवं गौडपाद, शंकर आदि दार्शनिकों के प्रयत्नों से निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लेता है। ऋग्वेद की हंसवती ऋचा के अन्तर्गत समस्त प्राणियों के चित्त में स्थित, उपाधि रहित, निर्गुण परमात्म तत्त्व का वर्णन हंस के रूप में किया गया है।¹ कठोपनिषद् में परब्रह्म को शब्द, रूप, रस तथा गन्ध से रहित, अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, परात्पर और ध्रुव कहा है।² गौडपादाचार्य ने ब्रह्म का वर्णन अज, अनिद्र, अस्वप्न, नामरूपरहित, सकृद् विभात तथा सर्वज्ञ कहकर किया है।³ इसके भाष्य में शंकराचार्य ने सर्वज्ञ का अर्थ सब

कुछ जानने वाला न कर के 'वह ब्रह्म पूर्णतया ज्ञानरूप है' यह किया है- "सर्वं च तज्ज्ञस्वरूपं चेति सर्वज्ञम्"⁴। शंकराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म को अद्वैत वेदान्त का सर्वोच्च सत्य माना है, उनकी दृष्टि में ब्रह्म की सत्यता का तात्पर्य यह है कि वह देशकालादि के बन्धनों से मुक्त है।⁵ वह वाङ्मनसातीत है किन्तु अभावरूप नहीं है।⁶ साथ ही निर्गुण ब्रह्म को कारणरूप भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि कारणता के साथ ही ब्रह्म का देश कालादि से सम्बन्ध भी स्वीकार करना होगा, जिससे उसके निर्गुणत्व की हानि होगी। जबकि अस्थूलमनवाहस्वमदीर्घम् (बृह० 3.3.8.8) अशब्द मस्पर्शमरूपमव्ययम् (कठ० 3.3.15) आदि सभी श्रुतियों में निर्गुण ब्रह्म का ही उपदेश है।⁷ वह ब्रह्म वाणी एवं मन से परे है, वह विषयों के अन्तर्भूत नहीं है, अतः प्रत्यगात्मरूप, नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव है-

"वाङ्मनसातीतमविषयान्तः पाति प्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभावं ब्रह्मेति।"⁸

(शा० भा० ब्र० सू० 3.2.22)

ब्रह्म के सगुणरूप का विकास ऋग्वेद के पुरुष सूक्त⁹ में वर्णित सहस्रशिर वाले, अनन्त चक्षुधारी, सर्वतोपाद विराट्पुरुष से माना जाता है। मुण्डकोपनिषद् (1.1.9) में परब्रह्म परमेश्वर को सर्वज्ञ, सर्ववित् एवं ज्ञानमय तपवाला बताते हुए जगत् के नामरूप एवं अन्नादि का स्रष्टा कहा है। अन्य उपनिषदों में भी ब्रह्म को स्रष्टा¹⁰, लोकरक्षक¹¹ और नियन्ता¹² कह कर उसके सगुण रूप का ही वर्णन किया गया है। आचार्य गौडपाद ने भी जहाँ पुरुष को समस्त लोक का जनक कहा है¹³ वहाँ उनका तात्पर्य सगुण परमात्मा से ही है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का वर्णन ब्रह्म के पर और अपर भेद के निरूपण के माध्यम से करते हुए निर्विशेष

* राजस्थान वि० वि० जयपुर।

और सविशेष ब्रह्मविषयक श्रुतिवाक्यों में संगति स्थापित करने की चेष्टा की है।¹³ नामरूपादि से विशिष्ट ब्रह्म ही सगुण अथवा अपर ब्रह्म है जिसका उपासना की दृष्टि से उपदेश दिया गया है, और जिसे सृष्टि का कर्ता बताया गया है। अविद्या अथवा माया के कारण ही ब्रह्म, स्रष्टा, नियन्ता आदि विकल्पों से संयुक्त होता है, जब साधक को आत्मस्वरूप-बोध हो जाता है तो उसे सृष्टिकर्ता की भिन्न प्रतीति नहीं होती। उसकी द्वैतबुद्धि निवृत्त हो जाने से उसके लिए सगुण परमात्मा शेष नहीं रहता। रत्नप्रभाकर ने उचित ही कहा है कि निर्गुण ब्रह्म विद्या का विषय है और सगुण ब्रह्म अविद्या का—‘विद्याविषयो ज्ञेयम् निर्गुण सत्यम्, अविद्या विषय मुपास्यं सगुणकल्पितम्’ (ब्र० सू० 1.1.12)

पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण, निराकार, त्रिकालातीत अद्वैत तत्त्व ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार करने पर भी आचार्य शंकर ने व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की भी सत्ता मानी है। जगत्प्रपञ्च का अनुभव होता है, इसलिए यह सत्य है किन्तु यह त्रिकालं (भूत वर्तमान भविष्य) में अनुभूत न होने के कारण मिथ्या है, उसकी सत्यता स्वप्न ज्ञान की भाँति ब्रह्मात्मता विज्ञान से पूर्व ही रहती है—‘‘सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः, स्वप्न-व्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात्’’ (शा०भा० ब्र०सू० 2.1.14)

परमार्थ दृष्टि से जगत् को असत् कहने और स्वप्न का उदाहरण देने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि ब्रह्म-बोध की स्थिति में जगत् स्वप्न की भाँति लुप्त हो जाता है। ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण दृश्यमान् जगत् का लोप न होकर, द्वैतमूलक नामरूपात्मक प्रपञ्च और उससे उत्पन्न होने वाले समस्त व्यवहारों का ही लोप होता है। जगत् के असत् होने का तात्पर्य है कि जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है।¹⁴ इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जगत् और ब्रह्म में अभेद है, ऐसा मानने पर तो जगत्-प्रपञ्च से ब्रह्म का स्वरूप प्रभावित होगा। इसीलिए

भामतीकार ने स्पष्ट किया है कि ब्रह्म और जगत् के अनन्यत्व से दोनों के अभेद का प्रतिपादन नहीं किया जा रहा अपितु भेद का निषेध किया जा रहा है।¹⁵ ब्रह्मसूत्र की एक अन्य टीका रत्नप्रभा के अनुसार भी ब्रह्म एवं जगत् का अनन्यत्व कारण से पृथक् कार्य की सत्ता की शून्यता सिद्ध करता है न कि उनका ऐक्य। ‘कारणात् पृथक् सत्त्वशून्यस्य कार्यस्य साध्यते न ऐक्यम् (रत्नप्रभा, ब्र० सू० 2.1.14)। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् के मिथ्यात्व से तात्पर्य उसकी त्रिकालातीत ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता का नहीं होना है ; जगत् को सर्वथा असत् अथवा शून्यरूप नहीं कहा गया है। स्वरूपतः ब्रह्म से भिन्न जगत् की ब्रह्मरूप अधिष्ठान में प्रतीति अध्यास—‘अध्यासोनामातस्मिस्तह बुद्धिः’ अथवा अध्यारोप-वस्तुन्य वस्त्वारोप अध्यारोपः के कारण होती है। शुक्ति में रजत और रज्जु में सर्प की भाँति नामरूपादि से रहित चेतन तत्त्व में नामरूपात्मक अचेतन प्रपञ्चात्मक जगत् की सत्ता अध्यास के कारण ही प्रतीत होती है। निर्मल आकाश में नीलादि के आरोप के समान ब्रह्म में जगत् का आरोप कर लेने पर भी उसकी अखण्डता एवं शुद्धता अबाधित रहती है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब रहता है उसी प्रकार दोषों से रहित पूर्णानन्द स्वरूप शुद्ध ब्रह्म में समस्त प्रपञ्च अध्यस्त है।¹⁶ रज्जु से स्वतन्त्र सर्प की कल्पना का जिस प्रकार कोई औचित्य नहीं है, वैसे ही ब्रह्म से स्वतन्त्र जगत् की कल्पना सम्भव नहीं है, तथापि ये दोनों अभिन्न भी नहीं हैं। ब्रह्म और जगत् के इस अनिर्वचनीय सम्बन्ध* को स्पष्ट करने के लिए माया शक्ति की अवधारणा प्रस्तुत की गई है। माया शक्ति से विशिष्ट परमात्मा इस जगत् का कारण है। शंकराचार्य ने कहा है कि एक ही परमेश्वर जो कूरस्थ, नित्य एवं विज्ञान स्वरूप है माया के द्वारा अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। श्रुति वाक्य ‘सोडकामत बहु स्याम् प्रजायेय’ की दृष्टि से भी ब्रह्म जगत् का कर्ता है और शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र 1.4.14 के भाष्य में यही स्वीकार किया है—‘... इति समस्त जगत्सृष्टि निर्देशेन प्राक्सृष्टेरद्वितीय

* ब्रह्म पर जगत् आश्रित है किन्तु उसके स्वरूप को प्रभावित नहीं करता, उससे सर्वथ स्वतन्त्र भी नहीं और एक भी नहीं है।

स्रष्टारमाचष्टे ।' साथ ही जगत् से भिन्न नहीं होने के कारण ब्रह्म अपनी ही कृति का कर्म भी है- 'इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मप्रक्रियायां' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० 2.7) इत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं च दर्शयति । आत्मानमिति कर्मत्वं, स्वयमकुरुतेति कर्तृत्वम् (शा० भा० ब्र० सू० 1.4.26) । जगत् का कर्तृत्व ब्रह्म में माया के कारण माना गया है और माया सत् नहीं है क्योंकि ज्ञानकाल में उसका बाध होता है, वह असत् भी नहीं है क्योंकि व्यवहार में प्रतीति होती है इसीलिए उसे सदसद् से भिन्न अनिर्वचनीय कहा गया है- 'अव्यक्ता हि सा माया तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्' (शा० भा० ब्र० सू० 1.4.3) ।

सर्वव्यापी ब्रह्म की जीवरूप में प्रतीति भी माया के ही कारण होती है । आत्मा के विषय में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति सम्भव नहीं- 'सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न, नाहमस्मीति । यदि हिं नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात्, सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात् । आत्मा च ब्रह्म (वही० 1.1.1) ।

अपने अस्तित्व की प्रतीति करने वाला जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है । बुद्धि प्राणादि की उपाधि से उपहित ब्रह्म ही कर्ता भोक्ता जीव कहलाता है ।¹⁷ आकाश के समान सर्वव्यापी ब्रह्म जीव के कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि से उसी प्रकार असंस्पृष्ट रहता है, जिस प्रकार आकाश घटाकाश मठाकाश आदि से ।¹⁸ इस प्रकार 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों द्वारा जीव और ब्रह्म में पारमार्थिक दृष्टि से अभेद का निर्देश होने पर भी जीव और ब्रह्म में उपाधिकृत भेद है । श्रुति में 'आत्मा वाऽरे दृष्टयः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' आदि उपदेश के अनुसार दृष्टि का कर्ता कौन होगा ? किसे देखा जाना चाहिए ? इन प्रश्नों के उत्तर में ब्रह्म की भाँति आत्मा भी कर्ता एवं कर्म स्वरूप होगा । अचेतन शरीर, मन, बुद्धि प्राणादि में कर्तृत्व सम्भव नहीं है और वे दृष्टि के द्रष्टा बन भी नहीं सकते- 'न दृशेर्द्रष्टारं पश्ये.....' कर्तृत्व आत्मा अथवा जीव में ही सम्भव है- 'कर्ता शास्त्रार्थत्वात्'

(ब्र०सू० 2.3.33) । जीव को लौकिक वैदिक समस्त क्रियाओं का कर्ता बताया गया है, किन्तु वह स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो वह केवल अपने हित का सम्पादन और अहित का परिहार करता । जबकि संसार में जीव को इष्ट के साथ अनिष्ट भी स्वीकार करना पड़ता है- 'उपलब्धिबदनियमः' (वही, 37) । कर्तृत्व को आत्मा का स्वरूप अथवा स्वभाव भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर अग्नि से उष्णता की भाँति वह कदापि वियुक्त नहीं होगा और जीव का मोक्ष न हो सकेगा । यदि यह माना जाए कि ईधन की समाप्ति पर स्वयं बुझ जाने वाली अग्नि की भाँति, भोग समाप्त होने पर जीव का कर्तृत्व भी समाप्त हो कर मोक्ष हो जाएगा; तब जीव को अपने मोक्ष के लिए अन्य साधन (भोग मुक्ति) पर आश्रित मानना होगा । इसलिए नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं माना जा सकता । आत्मा में औपाधिक कर्तृत्व ही सम्भव है- 'तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वं न स्वाभाविकम्' (शा०भा०ब्र०सू० 2.3.40) ।

जीव का कर्तृत्व परमात्मा पर आश्रित है- 'परानु तच्छ्रुतेः' (ब्र०सू० 2.3.41) । जीव का कर्तृत्व ईश्वर प्रेरित अवश्य है किन्तु प्रवृत्ति जीव की स्वतः होती है और स्वयंकृत के धर्माधर्मादि का उत्तरदायित्व भी उसी पर होता है । ईश्वर तो समस्त जीवों के कर्तृत्व के प्रति सामान्य कारण उसी प्रकार, है जिस प्रकार संसार में गुच्छ, गुल्म, ब्रीहि, यवादि के प्रति साधारण कारण पर्जन्य होता है । पर्जन्य के न होने पर उनका अस्तित्व नहीं दिखेगा, लेकिन उनके परस्पर वैषम्य का कारण उनके अपने बीज ही होते हैं । इस प्रकार जीव एवं ईश्वर परस्पर भिन्न हैं । साथ ही श्रुति में इन दोनों के अभेद का भी 'ब्रह्म दाशा' आदि के द्वारा वर्णन मिलता है । यह अभेद वैसा ही है जैसा अग्नि और विस्फुलिंग में । अग्नि और विस्फुलिंग में अनुस्यूत उष्णता की भाँति जीव और ईश्वर में चैतन्य विद्यमान है- 'चैतन्यं चाविशिष्टं जीवेश्वरयोर्थयाग्निं विस्फुलिङ्गं-योरौप्यम् ।

अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः।' (शा०भा०ब्र०सू० 2.3.43)। जीव और ईश्वर के भेदाभेद की व्याख्या करने के लिए सूर्य और उसके जलीय प्रतिबिम्ब का उदाहरण दिया गया है।¹⁹ इस प्रतिबिम्बवाद के द्वारा जीव के कर्तृत्व से ईश्वर की निर्लिप्तता, जीव का संकुचित एवं ईश्वर का सर्वव्यापी स्वरूप, बन्धन और मोक्ष की व्याख्या स्पष्टतया हो जाती है और अद्वैतवाद भी सुरक्षित रह जाता है।

काश्मीर शैव दर्शन में परम तत्त्व के लिए चित्, चितिशक्ति, शिव, महेश्वर, भैरव, अनुत्तर आदि नामों का व्यवहार मिलता है। वेदान्त के विपरीत यहां परमतत्त्व केवल सत् चित् स्वरूप नहीं है अपितु वह सत्ता अर्थात् 'भवन कर्तृता' और 'चितिक्रिया' से भी अविच्छन्न रूप से सम्बद्ध है।²⁰ वह स्वप्रकाश होने के साथ ही विमर्शमय भी है और विमर्श उसकी ज्ञान क्रिया-शक्तियाँ हैं— 'विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञान क्रिये यतः।' (ई०प्र०वि० 1.8.11) विश्वप्रकाश एवं विश्व संहार में स्वतंत्र रूप से स्फुरित होता है, इसी के द्वारा वह स्वभिन्न को आत्मरूप में आत्मरूप को भिन्न रूप में व दोनों को एक रूप में प्रस्तुत करता है।²¹ परम तत्त्व में शिव शक्ति का अभिन्न सामरस्य है, शक्ति के बिना शिव जड़ स्फटिक आदि, जिन्हें अपनी सत्ता का भान नहीं होता, के समान हो जाएगा—

'न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते॥
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।' (शि०ट्ट० 3, 2-3)

शक्ति ही प्रकाश रूप शिव का विमर्श है जिससे वह कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ होता है। अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से वह शिव से लेकर धरणि-पर्यन्त षड्विंशंदात्म जगत् में अभिन्न रूप से स्फुरित होता है।²² विश्वरूप में आभासित होने पर भी वह अपने स्वरूप से च्युत न होकर विश्वोत्तीर्ण भी बना रहता है।²³ वह स्वतन्त्र रूप से विश्व का कारण है उसे विश्वरूप चित्र की सृष्टि के लिए तलिका, वर्ण, पट आदि किसी सामग्री की

आवश्यकता नहीं होती—

'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' प्र०ह० 2

परमशिव अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से, दर्पणनगर-न्याय से, स्वयं अविभक्त रहते हुए भी विश्व को अपने से भिन्न के समान प्रकाशित करता है।²⁴ इस प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व शिव से स्वरूपतः अभिन्न होने के कारण जड़ अथवा अशुद्ध नहीं है। लौकिक दृष्टि से जड़ प्रतीत होने वाले पदार्थ वे हैं जिन में शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति का आभासन कम मात्रा में हुआ है।²⁵ यह आभासन भी परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का ही परिणाम है—

'परमेश्वर एव हि मायीयसर्ग चिकीर्षायां स्वस्वातन्त्र्येण बहिरवभासित भावराशिमध्यात् काँश्चिज्जाडानपि प्राणादीन् स्वगताहन्तात्मक कर्तृत्वाभिषेकेण ग्राहकी भावयति, काँश्चिदपि शब्दादीन् इदन्तापात्र तया चिद्रूपतातिक्रमेण ग्राह्यतामापादयति, तेन प्राणादीनाम् जाड्येऽपि परमेश्वर स्वातन्त्र्यादेव चित्त्वम् इति।' (तन्त्रा० विवेक 5.8 पृ० 323)

इस प्रकार शिव अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से, इस संसार के कुछ पदार्थों को ग्राह्य- (जड़) रूप में और कुछ को ग्राहक- (चेतन, पशु, परिमित प्रमाता) रूप में प्रकाशित करता है। भाव पदार्थ जब शिव से अभिन्न होते हैं, तब वह पति कहलाता है और भिन्नावस्था (जो माया के कारण प्रतीत होती है, में क्लेश कर्मादि से कलुषित पशु कहलाता है।²⁶ वस्तुतः शिव स्वयं ही स्वयं को पाशबद्ध संकुचित पशु के रूप में प्रकाशित करता है— 'शिव एव गृहीत पशुभावः' (प०सा० 5)।

परम शिव स्वात्मप्रच्छादन की क्रीडा से स्वयं को पशु रूप में आभासित करता है, जिसमें उसकी इच्छा, ज्ञान, क्रियादि शक्तियों का स्वातन्त्र्य सीमित हो जाता है, जब परिमित प्रमाता इसे ही अपना वास्तविक स्वरूप समझने लगता है तो वह उसका बन्धन होता है और जब ज्ञान, योग, चर्या अथवा अनुग्रह के माध्यम से उसे आत्म

स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है तो यह उसका मोक्ष है। अभिनव गुप्त ने कहा है—

मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।

अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तिता मोक्षः॥

(प०सा० 60)

इस प्रकार परमेश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से स्वयं को बन्धनग्रस्त करता है और अपनी अनुग्रह शक्ति से स्वयं को मुक्त भी करता है। अपने स्वातन्त्र्योल्लास से वह सतत सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह, निग्रह इन पंचकृत्यों में निरत रहता है।

इस दर्शन में कर्तृकर्मभाव ही कार्य कारण भाव है— “स्वमते कर्तृकर्मभाव एव कार्यकारणभावः।”
(ई०प्र०वि० 2.4.1)

कर्म कर्ता में ही पूर्णतः अभिन्न भाव से विश्रान्त रहता है। कर्ता की इच्छा का ज्ञानपूर्वक क्रियात्मक बाह्य आभासन ही कर्म कहा जा सकता है—“कारणमपि कर्तयैव विश्रान्तम्इति सविदात्मन्यवस्थितस्य चार्थस्य बहिरवभासनम् (तन्त्रा विवेक, 9.8) इस प्रकार कारण चाहे लौकिक हो या अलौकिक; कर्मरूपता में उसकी इच्छा ही प्रधान है। योगी अपनी इच्छामात्र से निरूपादान ही घर निर्माण में समर्थ है और परमेश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से विश्व का उन्मीलन करता ही है। कारण बनने के लिए स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का होना आवश्यक है, जो जड़ में कथमपि सम्भव नहीं है। साथ ही चेतन में इच्छा रहने मात्र से वह कारण नहीं बन सकता, क्योंकि इस के लिए क्रिया भी आवश्यक है। क्रिया शक्ति से रहित चिन्मात्र इच्छा होने पर भी कुछ नहीं कर सकता, जिसमें कर्म करने की इच्छा और क्रिया की स्वतन्त्रता न हो। स्वातन्त्र्य ही तो कर्ता का गौरव एवं स्वरूप है। इस तथ्य को पाणिनि ने इन दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना के बहुत पहले ही अपने सूत्र ‘स्वतन्त्रः कर्ता’ (1.4.54) में प्रतिष्ठापित कर दिया था। अभिनव गुप्त ने भी कहा है—

‘अस्वतन्त्रस्य कर्तृत्वं न हि जातूपपद्यते’ (तन्त्रा, 9.9)

कर्म का स्वारस्य उसके कर्ता में है और कर्ता का स्वारस्य पूर्ण स्वातन्त्र्य में। वस्तुतः अप्रतिहत और कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम् के सामर्थ्य के बिना कर्तृत्व की कल्पना कम से कम परम तत्त्व के स्तर पर तो की ही नहीं जा सकता। इस प्रकार चित् शक्ति से नित्यसम्पन्न कर्ता ही अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा विविध कार्यरूपों में आभासित होने में समर्थ है (ई० प्र०वि० 2.4.19, प०सा० 12)। विविध कार्यरूपों में आभासन से कर्ता के एकत्व की हानि नहीं होती, इसे प्रतिबिम्बवाद अथवा दर्पण नगर न्याय के द्वारा समझाया जाता है। कारण एवं कार्य में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, कार्य का अर्थ है बाह्येन्द्रिय एवं अन्तरिन्द्रिय का विषय बनना—

कार्यकारणता लोके सान्त्वर्षिपरिवर्तिनः।

उभयेन्द्रियवेद्यत्वं तस्य कस्यापि शक्तितः॥

(ई०प्र०वि० 2.4.4)'

इस दर्शन के कारणवाद का परम वैशिष्ट्य यह है कि यह घटादि लौकिक कार्यों का भी कारण अथवा कर्ता परम शिव को ही मानता है। कुम्भकार को घट का कर्ता मानें, तो कुम्भकार से आशय उसका शरीर लिया जाए तब वह प्राणपुर्यष्टक देह रूप कुम्भकार जड़ से भिन्न नहीं और जड़ में कारणता सम्भव नहीं। कुम्भकार में स्थित चेतना या संवित् यदि कार्य की कारण है तो वह वस्तुतः परा संवित् से अभिन्न होने के कारण घटपटादि सभक्त वस्तुओं का वास्तविक कारण परा संविद् ही है :-

“कुम्भकारस्य या संविच्चक्रदण्डादियोजने।

शिव एव हि सा यस्मात्संविदः का विशिष्टता॥”

(तन्त्रा, 9.36-7)

इस प्रकार स्वतन्त्र शिव अपनी इच्छा से निर्यात दशा में कुम्भकार और मृदादि की परस्पर अपेक्षा से घटरूप कार्य उत्पन्न करता है, घटादि कर्म रूप में भी शिव ही आभासित होता है। अतः वही परम कारण है (तन्त्राः, 9.7-8)।

काश्मीर शैव दर्शन का यह कारणवाद पदार्थ के

ऊपर चेतना की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है। साधन वस्तुतः चेतन की इच्छा का ही प्रतिफल होता है उससे सर्वथा स्वतन्त्र नहीं। विषय एवं विषयी, शरीर एवं मन, द्रव्य एवं चैतन्य आदि का द्वैत तब तक समाप्त नहीं होता जब तक दोनों में से एक का प्रभुत्व न मान लिया जाए। पदार्थ की प्रमुखता व्यक्ति को परतन्त्र बनाती है और पदार्थ और चैतन्य दोनों के स्वीकार करने वाले द्वैत में उलझ जाते हैं। यह कारणवाद कर्तृत्व को परासंवित् में प्रतिष्ठापित कर के भौतिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक जगत् का मूलाधार स्वतन्त्र कर्ता में खोजता है। मनुष्य की प्रतिपल होने वाली मानसी सृष्टि से समान यह विश्व परम शिव की सृष्टि है।

वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन की मूलभूत मान्यताओं के अनुसार दोनों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत है-

1. वेदान्त सत्, चित् आनन्द स्वरूप ब्रह्म को अन्तिम तत्त्व मानता है, जिसमें 'एकोऽहम् बहु स्याम्' की इच्छा तो है लेकिन तत्सम्बन्धी ज्ञान एवं क्रिया नहीं; जबकि शैव दर्शन का परम तत्त्व सदैव इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के पूर्णस्वातन्त्र्य-विमर्श से युक्त है और अपनी बहुरूपता की इच्छा की पूर्ति के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र है।

2. वेदान्त के अनुसार अनेकरूपता की इच्छा मायोपहित ब्रह्म में होती है। यह माया ब्रह्म की ही भाँति अनादि है किन्तु सत् नहीं और इसका ब्रह्म से सीधे कोई सम्बन्ध भी नहीं होता तथापि यह जगत्प्रपञ्च की कारण है। शैव दृष्ट्या विमर्श अथवा स्वातन्त्र्य शक्ति शिव का अपना स्वभाव है, इससे उसके अद्वय स्वरूप में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती और जगत्प्रपञ्च का कर्तृत्व की स्पष्टतया निर्णीत हो जाता है।

3. वेदान्ती केवल चेतन तत्त्व से ही चेतना चेतन सम्पूर्ण जगत् की व्याख्या करते हैं और उसे पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या मानते हैं इस प्रकार कारण और कार्य में स्वरूपतः (चेतन, अचेतन, सत्-मिथ्या) भेद होने पर भी अन्ततः भेद स्वीकार नहीं करते हैं, जब कि शैवी सृष्टि में पूर्ण चेतन से निःसृत जगत् चेतन स्वरूप ही है

? जो वस्तुएँ जड़ प्रतीत होती हैं उनका कारण उनमें चेतना के प्रकाश का अल्प प्रकाशन है। इस प्रकार कारण परम तत्त्व और कार्य जगत् में स्वरूपतः भेद नहीं है साथ ही अद्वैतवाद भी सुरक्षित है।

4. केवल कारण को सत्य मानने से वेदान्त दर्शन में क्रिया और कर्ता का स्वरूप, उनका सम्बन्ध और उत्तरदायित्व स्पष्ट नहीं हो पाता, जब कि काश्मीर शैव दर्शन कर्तृकर्म भाव को ही कारणवाद के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करता है, जिसके अन्तर्गत कार्यरूप जगत् की सत्यता, क्रिया का स्वरूप, कर्ता का उससे सम्बन्ध, उसके प्रति स्वातन्त्र्य एवं उत्तरदायित्व स्पष्टतया व्याख्यात होता है।

5. वेदान्त में 'लोकवतु लीला कैवल्यम्' (ब्र.सू. 2.1.33) के द्वारा ब्रह्म की सृष्टि में क्रीडार्थ प्रवृत्ति की बात कही है किन्तु इच्छा ज्ञानादि से रहित शान्त ब्रह्म में क्रीड़ा कैसे सम्भव है? शैव दर्शन में शिव स्वभावतः विश्वभासन में निरत रहता है।

6. अद्वैतवाद के साथ जगत्प्रपञ्च की सुसगत व्याख्या करने के लिए वेदान्त में भी प्रतिबिम्बवाद (ब्र.सू. 3.2.88) का सहारा लिया गया है किन्तु उसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं, शैव दर्शन में शिव स्वात्मभिक्ति पर स्वयं ही चित्र विचित्र विश्व की रचना स्वतन्त्र रूप से करता है।

7. शंकराचार्य के अनुसार चेतन ब्रह्म पर आश्रित अचेतन जगत्, समुद्र के फेन की भाँति मिथ्या अशुद्ध है। और परम तत्त्व का बोध भी अशुद्ध प्रपञ्च का लोप होने पर ही होगा (ब्र. सू. 3.2.21)। शैव दार्शनिकों के लिए अन्तिम शुद्ध परम चेतन को अद्वैत तत्त्व को स्वीकार करने के लिए द्वितीय अनुभूत सत्य (जगत्) का निषेध करने या उसे अशुद्ध बताने जैसी कोई बाध्यता नहीं है।

8. शंकराचार्य के अनुसार चेतन तत्त्व का अज्ञान ही बन्धन है और ज्ञान (जो संस्कार्य, विकार्य, उत्पाद्य या प्राप्य नहीं है) ही मोक्ष है। जीव का अज्ञान (बन्धन) से ग्रस्त होना व ज्ञान प्राप्ति का साधन क्या हो, यह सुस्पष्ट नहीं जब कि शैव दार्शनिक 'ज्ञान

बन्ध' (शि. सू., 1.2) कह कर अपूर्ण ज्ञान की पूर्णता ही मोक्ष है।

9. शंकराचार्य ने लोक और इसमें उपलब्ध भोगों को हेय मानते हुए कर्मसंन्यास पर बल दिया, यह लोकयात्रा एवं ज्ञान दोनों ही दृष्टि से कल्याणकारी प्रतीत नहीं होता। शैव दार्शनिकों की यह विशेषता है कि इन्होंने भोग और मोक्ष का समन्वय करते हुए भोग के माध्यम से मोक्ष के मार्ग को प्रशस्त किया।

10. वेदान्त दृष्ट्या मोक्षप्राप्ति में चेतन की कोई भूमिका नहीं है क्योंकि उसमें मोक्ष सम्बन्धी इच्छा, ज्ञान या क्रिया का होना असम्भव है। काश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष के लिए ज्ञान की प्राप्ति गुरु, शास्त्र और स्वयं से मानी गई है। इनमें भी चेतन स्वयं को प्रधान माना है साथ ही परम चेतन अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति, जिसे अनुग्रह अथवा शक्तिपात कहा गया है, से किसी भी बन्धनग्रस्त पशु को, कभी भी मुक्ति प्रदान कर सकता है, यही नहीं, गुरु यदि कुपित हो तो वह प्रदत्त ज्ञान का आहरण भी कर सकता है। इसे तिरोधान नामक कृत्य कहा गया है।

(गुरुर्हि कुपितो यस्य तिरोहित स उच्यते)

चेतन की यह स्वतन्त्रता, गुरुता, महत्त्व सम्भवतः किसी दर्शन में प्राप्त नहीं है। वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जगत् में सुलभ, अनुभव प्रमाणित द्वैत से अद्वैत की ओर यात्रा सरल नहीं है। द्वैत का अद्वैत में विगलन द्वैत का निषेध करके भी होता है जैसा वेदान्त ने किया और द्वैत को स्वीकार करके, अद्वैत का स्वरूप या स्वभाव ही बना कर, जैसा काश्मीर शैव दर्शन ने किया। दोनों ही दर्शनों ने अपने सिद्धान्तों को अधिकाधिक संगत एवं ग्राह्य बनाने की पूर्ण चेष्टा की है, किन्तु निषेधमुखी, 'नेति नेति' के द्वारा ब्रह्म का वर्णन, अनिर्वचनीया माया का अकस्मात् पदार्पण जगत्, जीव और ब्रह्म के अनन्यत्व, के मायाजाल में इस दर्शन का अध्येता स्वयं को पाता है। काश्मीर शैव दार्शनिकों के शुद्धि-अशुद्धि, पूर्ण-अपूर्ण, ज्ञान-अज्ञान, भेद-अभेद सभी के प्रति स्वीकार भाव के साथ अद्वैतता को सुरक्षित रखने, चेतनतत्त्व का एक विश्वसनीय, ग्राह्य स्वरूप प्रस्तुत करने और उसकी सर्वोच्चता को सुरक्षित रखने के कारण इस दर्शन का जिज्ञासु स्वयं को आश्वस्त पाता है और सिद्धान्तों में संगति का अनुभव करता है।



पाद टिप्पणियाँ

- (1) ऋग्वेद, 4.40.5 (2) कठ 3, 1.3.15 (3) गौ.का., 3.36 (4) शा.भा., गौ. का., 3.36 (5) शा. भा., ब्र.सू. 4.3.14 (6) वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावप्रायेणाभिधीयते।' वही, 3.2.22. (7) वही, 3.2.14 (8) ऋग्वेद, 10, 90, 1.3-5 (9) तै. उ., 3.1 (10) बृ.उ., 4.4.22 (11) वही, 3.7.3 (12) गौ. का. 1.6 (13) (क) शा.भा.ब्र.सू. 4.3.14 (ख) द्वे भाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवाभूर्तं च (बृह. 2.3.1) उद्धृते, शा. भा. ब्रह्म. सूत्र 3.2.22 (14) वही, 2.1.14 (15) न खल्वनन्यत्वमित्य भेद श्रुमः किन्तु भेद व्यासेधाम। भामती, 2.1.14 (16) वे. सि. मु. 24 (17) बुद्धयाधुपाधिकृतं तु विशेषमात्रित्य ब्रह्मैव सञ्जीवः कर्ता भोक्ता चेत्युच्यते। शा.भा.ब्र.सू. 1.1.31 (18) वही. 1.2.8; 2.1.22 (19) वही, 2.3.46 (20) शि. द्व. 4.6 (21) (क) पराप्रावेशिका, पृ. 2 (ख) ई.प्र.वि. 1.8.11 (22) शि. द्व., 2.2 (23) तन्त्रालोक एवं विवेक, 1.54 (24) (क) ई.प्र.वि. 2, पृ. 153, 204 (ख) तन्त्रालोक एवं विवेक, 5.8, पृ. 932-3 (25) तन्त्रालोक एवं विवेक, 5, 7-8.

(26) स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः।

मायातो भेदिषु कलेषकर्मादिकलुषः पशुः॥

ई.प्र.का. 3.2.3

स्व
स्वातन्त्र्यं
मानन्दशां
परावाग्
उक्तमत्त्व
चि
स्व
“
अविघ्ना
व्याख्या
संवित्स्व
दिस्थाव
अनतिरि
संविद्रूप
स्वातन्त्र्य
स्वातन्त्र्ये
सृष्ट्यां
पाणिनेः
अनन्तर
नष्टं स्य
स्यादिति

उ

म

(1) त

(6) त

(11) त

तदेव, पृ

संस्कृ

काश्मीरशैवदर्शनभर्तृहरिदर्शनयोः स्वातन्त्र्यविचारः

डॉ० कामदेव झा *

स्वातन्त्र्यस्य महन्महत्त्वं प्रतिपादितं शैवदर्शने खलु ।
मातन्त्र्यं परमेश्वरस्य परा शक्तिरिति । तन्त्रालोके स्वतन्त्र्य
नन्दशक्तिरिति ।¹ महेश्वरस्य शक्तिः चित्तिरित्युच्यते ।
रावाग् विमशैश्वर्यादयः परस्परं पर्यायाः इति ।
क्तमत्यत्र -

चित्तिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।

स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यम् तदैश्वर्यं परमात्मनः ।²

“स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्रेच्छाप्रसरस्य
विघातः इति ।”³ अभिनवगुप्तेन स्वातन्त्रवादस्य
याख्यायाम्-“तस्मादनप्रन्हनवनीयः प्रकाश विमर्शात्मा
वित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रा-
इस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयरूपतया च
नतिरिक्त्यापि अतिरिक्त्या इव स्वरूपानाच्छादिकया
विद्रूपनान्तरीयकस्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाश इति अयं
वतन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः ।”⁴ सृष्टिरपि परमेश्वरस्य
वातन्त्र्ये निर्भरति । परमेश्वरः नैव सृष्ट्यर्थं बाध्य इति ।
गृह्यां पूर्णतः स्वतन्त्रः भवति परमेश्वरः । इत्यत्र सूत्रं
गणिनेः स्वतन्त्रः कर्ता⁵ सङ्गच्छते । महेश्वरः यदि
अनन्तरूपत्वं नैव धारयेत्तर्हि महेश्वस्य महेश्वरत्वमेव
गृहं स्यादिति अथ च तस्य घटपटादिरूपेण व्यवहारो
स्यादिति भावः । यथोक्तम्

अवस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः ।

महेश्वरत्वं संवित्वं तदत्यक्ष्यद् घटादिवत् ।⁶

स्वातन्त्र्यादेव वैश्वरूपत्वेन दृश्यते जगत् ।

अभिनवगुप्तेन मालिनी-विजयवार्तिके “एकः प्रकाशः
स्वातन्त्र्याच्चित्ररूपः प्रकाशते” ।⁷ वस्तुतश्च न चित्रोऽसौ
नाचित्रो भेददूषणात्⁸

“चित्तिः स्वतन्त्रा⁹ विश्वसिद्धिहेतुरिति प्रत्यभिज्ञा-
हृदयकारेण प्रत्यपादि । परमेश्वरः स्वातन्त्र्यं चित्तिर्वैति
‘स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।’¹⁰ अत्र यथा
वेदान्ते ब्रह्मणः अनिच्छया भवति विश्वं नैव तद्वदत्र इति ।

यथादर्पणे नगरमिवा भिन्नत्वादपि भिन्नमिव
व्यनक्ति । शैवदर्शने यथा स्वातन्त्र्यं विश्वरूप-कारणं अथ
च खण्डरहितं¹¹ प्रकल्पितं तद्वच्चापि शब्दब्रह्मणः भर्तृहरिणा
स्वातन्त्र्यशक्तिः कालशक्ति रूपेणोद्भूतेति । यथोक्तं
स्वोपज्ञवृत्तौ-कालाख्येन हि स्वातन्त्र्येण सर्वाः परतन्त्रा
जन्म-वत्यःशक्तयः समाविष्टाः कालशक्तिवृत्तिमनुपतन्ति ।
ततश्च प्रतिभावं वैश्वरूप्यस्य प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां
शक्त्यवच्छेदेन क्रमवानिवावभासोपगमो लक्ष्यते ।¹² यथा
स्वातन्त्र्यं शैवदर्शने कर्तृत्वशक्तिरूपेणाभिहितं तद्वच्चापि
भर्तृहरेः व्याकरणदर्शने कर्तृत्वशक्तिरिति । इयं च
कालशक्तिः भगवतः स्वातन्त्र्याख्या कर्तृत्वशक्तिः पदार्थानां
निष्पादनोपसंहारयोग्यतारूपा ।¹³ यथा शब्दब्रह्मणः
कालशक्तिः अपृथक्त्वेऽपि पृथगिवावभासते तथैव
शैवदर्शने अभिनवगुप्तेन प्रत्यपादि । उक्तं तत्र-
“स्वतन्त्रमहिमावास्य स्वरूपादपृथक्स्थितिः ।”¹⁴ तथैव
भर्तृहरिणाऽपि- “अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव
वर्तते ।”¹⁵ भर्तृहरिणा यथा कालशक्तिप्रभावत्वात्

(1) तन्त्रालोकः, भागः 1 (2) ई०प्र०वि०वि० 1, पृ० 20, 3-4 (3) ई०प्र०वि०वि० । (4) तदेव, पृ० सं० 9 (5) अष्टाध्यायी, 1.4.54
(6) तन्त्रालोकः, 3, 100 श्लोकः (7) मालिनीविजयवार्तिकम्, काण्डम् 1.76 (8) तदेव (9) प्रत्यभिज्ञा हृदये 1 (10) तदेव.....2
(11) तन्त्रालोकः, 2, 47: नहि तस्य स्वतन्त्रस्य कापि खण्डना । (12) हरिवृत्तिः, (वाक्यपदीये, 1.3) पृ० 13-14 (13) अम्बाकत्रीव्याख्या,
तदेव, पृ० 14 (14) मालिनी विजय वार्तिकम्, 1.89 (15) वा०प० 1.2

* संस्कृत विभागाध्यक्ष, डी०ए०वी० कॉलेज, नन्योला (अम्बाला) हरियाणा ।

वैश्वरूपत्वं प्रत्यपादि तद्वच्चाभिनवगुप्तेन मालिनीविजय-
वार्तिके-“वैचित्र्यभासनैवेयं कालशक्तिरुदाहृता”¹¹ इति
प्रत्यपादि। भर्तृहरिणा स्वोपज्ञवृत्तौ-“कलुषत्वमिवापन्नं
भेदरूपं विवर्तते।”¹² वस्तुतः शब्दब्रह्म तु एकमेव। यथोक्तं
भर्तृहरिपादैः-“एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्ति-
व्यपाश्रयात्” पराप्रवेशिकायां क्षेमराजेन³ तु परमेश्वरस्य
हृदये चराचरं जगत् बीजरूपेण स्थितं यथा प्रत्यपादि
अथ च स्वातन्त्र्येण पुनः वैश्वरूपं प्राप्नोति तथैव भर्तृहरिणा
“एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा”¹⁴ इति अमाणि।

यथा शैवदर्शने स्वातन्त्र्येण विमर्शेन वेति सर्गकाले
विश्वाकारस्थितौ विश्वप्रकाशः अथ च संहारकाले
विश्वसंहरणरूपत्वमाप्नोति⁵ तथैव किल कालशक्ति-
वशात् सर्गः पुनश्च लयकाले तस्मिन्नेव ब्रह्मणि लीयत
इति। यथोक्तं भर्तृहरिणा-

ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।

विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते।⁶

भर्तृहरिणा यदुक्तं एकस्य सर्वबीजस्य अस्त्यार्थस्तु
वृषभदेवेन सर्वबीजस्य इति। भिन्नशक्तिप्रचितस्य⁷ इति
कृतः। वस्तुतः बीजं शक्तिरेव। अथच वृषभदेवेन
शक्तिभिः इति। योग्यताभिः⁸ इत्यनेन प्रतीयते यत्
योग्यता कालशक्तौ यथा विश्वप्रकाशनस्य अस्ति तद्वच्च
शैव- दर्शनेऽपि स्वातन्त्र्ये योग्यता तत्र विद्यते।
वैयाकरणैस्तु पारतन्त्र्यं शक्तिलक्षणं प्रतिपादितम्।
कथितञ्च हेलाराजेन “पारतन्त्र्यं च शक्तिलक्षणम्”⁹
इत्यनेन स्पष्टीभवति यत् शैवदर्शनस्य स्वातन्त्र्यं

भर्तृहरेः अद्वैतदर्शनवदेव प्रतिभातीति।
आचार्यरामसुरेशत्रिपाठिनाऽपि¹⁰ प्रत्यपादि यत्
शैवदर्शनस्य स्वातन्त्र्यं भर्तृहरिदर्शनमिव प्रतिभातीति।
आचार्यगौरीनाथशास्त्रिणः¹¹ कथनमस्ति यत्-
अभिनवगुप्तोऽपि भर्तृहरिरिव शक्तिशक्तिमतोरभेदत्वमुरी
करोति यथा ज्वालाऽनलयोरभेदत्वमिति भावः।

अभिनवगुप्तस्तु भर्तृहरेः कारिकामुद्धृत्य शैवदर्शन-
स्य स्वातन्त्र्यं भर्तृहरिदर्शनमिव प्रतिपादयति। यथोद्धृतं
तत्र-“यस्याः परमेश्वरस्वतन्त्र्यशक्तेः, सा
कालोत्थापकत्वात् भगवतः कालशक्तिरिति उच्यते,
अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिता इत्यादौ।”¹²
आचार्यगौरी नाथ शास्त्रिणः¹³ विचारोऽयं विद्यते यत्-
“परमशिवविमर्शयोः यो सम्बन्धः प्रत्यभिज्ञासम्प्रदाये
प्रत्यपादि स एव सम्बन्धः शब्दब्रह्मकालशक्त्योरस्तीति”।
परमेश्वरः सर्वतन्त्रः स्वतन्त्रः स्वातन्त्र्यात् सहजभावेन
सृष्टिं रचयति संहरति अथ च पञ्चकृत्यंकरोतीति।¹⁴
उयत्रापि दर्शने स्वातन्त्र्यस्य साम्यता परिलक्ष्यत इति।

शिवदृष्टमपि शक्तेः शक्तिमतो अभेदत्वं
प्रतिपादितमस्ति। तत्र-अर्थशक्तेः शक्तिमतो न भेदो
द्रव्यकर्मवत्¹⁵ इति। भर्तृहरिणाऽपि अपृथक्त्वेऽपि
शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते इति प्रत्यपादि। प्रत्यभिज्ञा-
हृदयकारस्तु¹⁶ - स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतामपि
च “इत्यत्र स्वातन्त्र्यं कर्तृत्वं प्रतिपाद्यत इति। भर्तृहरिरपि
स्ववृत्तौ¹⁷ तस्य क्रमवद्भिर्मात्रारूपैः कर्तृशक्तिः
प्रविभज्यमाना विकारमात्रागतं भेदरूपं तत्राध्यारोपयति

(1) मालिनी विजय वार्तिकम्, 1.100 (2) हरिवृत्ति, (वा०प० 1.1) पृ० 10 (3) परा प्रावेशिकायाम् क्षेमराजेनोद्धृतम्,
यथान्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपोमहाद्रुमः। तथा हृदय बीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्॥ (4) वा०प० 1.4 (5) कामकला विलासः, पृ० सं०
2, विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वं प्रकाशनेन विश्वसं हारेण च अकृतिमाऽहमिति स्फुरणम्। (6) हरिवृत्तिः (वा०प० 1.1) पृ० 10
(7) पद्धतिः, पृ० 21 (8) तदेव, 3 (9) हेलाराजः, वा०प० 3.6.1 (10) संस्कृत व्याकरणदर्शनम् पृ० 219 (11) The Philosophy
of word and meaning, P.P. 17-18 (12) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृतिविभर्शिनी भागः 2 पृ० 8 (13) The philosophy of word
and meaning, P.P. 17-18 (14) ई०प्र०वि०भा० 1, पृ० सं० 195, परमेश्वरो विश्वं सृष्टिसंहारादिना प्रपञ्चयति। (15) शिव० दृष्टिः,
6.1 (16) प्रत्यभिज्ञा हृदयम् पृ० 95 (17) स्वोपज्ञ वृत्तिः (वा०प० 103) पृ० 14.

तुलासूत्र इव । वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्डस्य पद्धतिकारस्तु¹
 स्वातन्त्र्यं कर्तृशक्तिः । पदार्थनिष्पादनोपसंहारयोग्या
 कर्तृशक्तिरिति ।" कर्तृत्वस्वभाववशादेव सृष्टिः स्थितिः,
 संहारः तिरोधानं अनुग्रहः इति पञ्चकृत्यानि भवन्ति
 सम्यादितानीति विचारोऽयं बोधपञ्चदशिकायां²
 प्रतिपादितमस्ति । काश्मीरशैवदर्शने स्वतन्त्र्यस्य भेदद्वयं
 प्रतिपादितमस्ति । तद्यथा-क्रियास्वातन्त्र्यं सत्तत्त्वातन्त्र्यञ्च ।
 तत्र भर्तृहरिणा कालशक्तेः प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञा द्वे शक्ती
 प्रतिपादिते किल । एका यदापुष्पं प्रतिबध्नति तथा फलं
 विकासोन्मुखं करोति । सर्वे चराचरपदार्थाः
 कालशक्त्याधीना भवन्तीति भावः । यथोक्तं तत्र³
 प्रतिबन्धभ्यनुज्ञाभ्यां वृत्तिर्या तस्य शास्वती ।

तस्य विभज्यमानोऽसौ भजते क्रमरूपताम् ॥

पुनश्च जराख्या क्रमाख्या भेदेन द्विधा । जराख्या-
 क्रमाख्ये कालशक्तेरवान्तरशक्ती विद्येते । आध्यामेव
 शक्तिभ्यां पौवापर्यं प्रकृतेः सञ्चालितं भवति । प्रत्यभिज्ञा
 हृदय-कारोपि प्रकारान्तरेण भर्तृहरेः प्रतिबन्धशक्तिरिव
 "चिति-संकोचात्माचेतनोऽपि संकुचितविश्वमयः ।"⁴
 अथ च "चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृत्तः संसारी"⁵
 इति सूत्रद्वयं प्रतिपादितमस्तीति । अत्रापि संकोचात्
 जीवः अपूर्णतामनुभवति । एवं प्रकारेण एकः एव
 प्रकाशः वैश्वरूपेण विभाति⁶ यथास्वातन्त्र्यं शैवदर्शनस्य
 शक्तिः तथैर्भर्तृहरिदर्शनस्यापि इति शम् ।



(1) पद्धति, पृ० सं० 18 (2) बोध पञ्चदशिका, श्लोक 4 (3) वा० प० 3.9.30 (4) प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्रम् 4 (5) तदेव, 9
 (6) मालिनी विजय वार्तिकम्, 1.76

तन्त्र-रहस्य का महत्त्व

प्रभा देवी *

तन्त्र-सिद्धान्त का रहस्य अहंपरमर्श की भित्ति पर अवलम्बित है। तन्त्र हमें व्यावहारिक जीवन में पराशक्ति का अनुभव कराने में समर्थ है। इस शास्त्र का मुख्य लक्ष्य यही है कि मनुष्य किसी भी दशा में रह कर स्वात्म-साक्षात्कार सहज में कर सके। इस आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति के लिए तन्त्र हमें स्पन्द-तत्त्व की गवेषणा करने के लिए परोत्साहित करता है।

तन्त्रों का सिद्धान्त अन्य सभी मतों के सिद्धान्तों से एक दम भिन्न है। देखिये! जिन शब्द आदि पांच तन्मात्राओं को अन्य मतावलम्बियों ने निन्दनीय कह कर त्याज्य तथा अधोगति का कारण माना है, उन्हीं को यह तन्त्र-शास्त्र स्वरूप- साक्षात्कार का मुख्य सोपान मानता है। ये पांच तन्मात्र यद्यपि प्रत्येक प्रमाता को स्वतः ही प्राप्त हैं, तथापि इन का वास्तविक रहस्य न समझ कर प्रायः सभी लोग इन की परिधि में आकर जीव, संसारी आदि कहलाते हैं। इस के विलोभ तांत्रिक योगी इन्हीं शब्दादि विषयों का आश्रय लेकर शांभवस्थिति से संपन्न बनता है। कहा भी है-

येन येन हि बध्यन्ते जन्तवो शैद्रकर्मणाः।

सोऽपायेन तु तेनैव मुच्यते भवबन्धनात् ॥

अब प्रश्न यह है- तांत्रिक योगी कैसे और क्यों इन तन्मात्रों के लपेट में नहीं आता। सच तो यह है- यह योगी इन सभी विषयों का भोग 'प्रथमाभास' पर आरुढ़ होकर करता है। उसका लक्ष्य सदा शब्दादि विषयों के सूक्ष्मतम अंश पर रहता है स्थूलता पर नहीं। दूसरे शब्दों में यूँ कहा जा सकता है- वह योगी निर्विकल्प पश्यन्ती

वाणी पर अवस्थित होकर ही मध्यमा तथा वैखरी रूपी जगत् में, हानादानदि व्यवहार करता है।

इसी भांति स्पर्श का आश्रय ले कर वह योगी वेद्य वस्तु की स्थूलता पर ध्यान न देकर उस की सूक्ष्मतम आनन्दशक्ति को ही अनुभव में लाने का अभ्यास करता है। ऐसा करते हुए वह सहज में ही स्वात्म-साक्षात्कार करने में समर्थ बनता है। किन्तु ध्यान रहे- इस स्पर्श तन्मात्र के अभ्यासी अति उच्च कोटि के क्रियात्मक स्पन्द तत्त्व के अन्वेषक योगी माने जाते हैं। इन का दर्शनमात्र करने से ही संसारी जनों का कल्याण होता है। कहा भी है-

“दर्शनात् स्पर्शनाद्वापि वितनात् भवसागरात्।

तारयिष्यन्ति योगीन्द्राः कौलाचार प्रतिष्ठितात् ॥”

रूप का आश्रय लेकर भी तांत्रिक परम योगी अन्तरात्मा का स्पर्श करता है। अत्यन्त हृदय-ग्राही तथा सुन्दरतम वस्तु को समक्ष रख कर वह योगी उस पर धारणा लगाते ही उच्चतम निर्विकल्प- दशा का अनुभव करता है। इस कथन का संकेत हमें विज्ञान-भैरव तन्त्र के निम्न श्लोक में मिलता है :-

“स्थूल रूपस्य भावस्य, स्तब्धां दृष्टिं निपात्य च।

अचिरेण निराधारं, मनः कृत्वा शिवं ब्रजेत् ॥ श्रे० ॥”

इसी प्रकार रस तथा गंध का अनुभव करते हुए वह योगी स्वात्मानन्द में रमा रहता है। यह तो रही सौख्य की बात। भयंकर दुःखों के आने पर भी वह तांत्रिक योगी विह्वल न होकर उन में भी स्वात्मानन्द रस

* ईश्वर-आश्रम, गुप्तगंगा, श्रीनगर (कश्मीर)

का अनुभव करता है। शिवदृष्टि में भी कहा है-

‘दुःखेऽपि प्रविकासेन।’ आ ५ श्लोक ६।

अभिनवगुप्त जी भी परात्रिंशिका शास्त्र के विवरण में कहते हैं - ‘दुःखेऽपि एष एव चमत्कारः’

दूसरी मुख्य विशेषता तन्त्र-सिद्धान्त में अनर्गल शक्तिपात की कही जा सकती है। शिव-शक्तिपात किसी भी साधना की अपेक्षा न करते हुए सदा स्वतंत्र और निरपेक्ष है। यह शक्तिपात अधिकारि भेद की सीमा से बाहर है। ऐसा भी देखने में आया है - जो व्यक्ति सामान्य लोगों की दृष्टि में निन्दनीय माना जाता है, वह भी शिव की स्वतन्त्र इच्छा के फलस्वरूप शिवशक्ति पात से आप्राप्त होता हुआ देखा गया है। इधर साधन चतुष्टय-संपन्न ब्राह्मण आजीवन भेद प्रथा से रंजित अपने सीमित रूप में काल यापन करते देखा जाता है। इसी आशय को लेकर ‘मुकुट-तन्त्र’ में अधिकारी भेद की अवहेलना करते हुए कहा है-

अन्त्यजातोऽपि हीनाङ्गः साधकः स च मोक्षभाक्
एभिर्गुणैर्वियुक्तात्मा ब्राह्मणोऽपि न मोक्षभाक्।
द्विजोऽपि मायीयत्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमोयकः॥

तीसरी विशेषता तन्त्रों में यह देखी जाती है - ज्ञान सदा योग से संबन्धित होकर ही परमार्थ-मार्ग का प्रदर्शक माना जाता है। तर्कपूर्ण शुष्क ज्ञान का यहां कोई प्रयोजन नहीं। कहा भी है-

असद्युक्तिविचारज्ञाः शुष्कतर्कावलम्बिनाः
भ्रमयत्वेतान् मयाह्यमोक्षे मोक्षलिप्सयाः॥

सत्य तो यह है त्रिक-रहस्य का मर्मज्ञ योगी सभी कर्मों को ज्ञान की कसौटी पर कस कर ही करता है। अतः सभी जागतिक कार्यों में पारमार्थिक दृष्टि से सदा सचेत रहना ही योगी का परम लक्ष्य माना जाता है। तथा

मध्य-धाम में प्रविष्ट होना ही उसके लक्ष्य की पूर्ति मानी जाती है। इस मध्य-धाम में प्रविष्ट होने के लिए वह योगी किसी भी साधना को सहर्ष तथा निर्भय होकर करने के लिए सदा उद्यत रहता है। वास्तव में तन्त्र-सिद्धान्त यह है कि यह सभी सांसारिक व्यवहार उसी मध्य-धाम में स्थित है। इसी लिए यह विमर्शपरायण शैव-योगी प्रत्येक चेष्टा में उसी परम-धाम के आनन्द का अनुभव करता है। अभिनवगुप्त जी कहते हैं :-

“अविकल्पपथारूढो, येन येन यथा विशेत्।
धरासदाशिवान्तेन, तेन तेन शिवीभिवेते॥”

तं०-१-आ०॥

चौथी विशेषता तन्त्र-सिद्धान्त की यह है-यह सारा ब्रह्माण्ड शिव की स्वेच्छा से उसकी स्वात्मभित्ति पर ही स्थित है। अतः स्वात्म-दर्पण में ही संपूर्ण विश्व की छाया प्रतिभासित होती है। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का निम्न सूत्र इसी आशय का द्योतक है-

‘स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वं उन्मीलयति।’

तथा तंत्रालोक में श्री अभिनवगुप्त जी भी कहते हैं :-

तेन संवित्तिमकुके, विश्वमात्मानमर्पयत्।
नाथस्य वदतेऽमुष्य विमलां विश्वरूपताम्॥

३-४४

स्वच्छन्द - तंत्र में, बोध-सुधाब्धि में प्रविष्ट होने के लिए उपायों की प्रक्रिया भी सुव्यवस्थित रूप से वर्णित है। इस शास्त्र के कालाध्वा प्रकरण में प्राणापान का अभ्यास मार्मिक रूप से किया गया है। एक ही प्राणापान के संचार में एक ‘चषकांश’ से लेकर साठ वर्षों की कलना गई है, जिस के फल-स्वरूप योगी काल की परिधि का उल्लंघन करके अकालकलित हो जाता है। उत्पलदेव जी ने भी इस अवस्था का संकेत

निम्नलिखित श्लोक में किया है:-

“न सदा न तदा न चैकदे, त्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत्।
तदिदं भवदीयदर्शनं, न च नित्यं न च कष्टयतेऽनयथा॥
शिवस्तोत्रावली ॥”

इस के अतिरिक्त इसी प्राणापान के संचार में उत्तरायण, दक्षिणायन, सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, विषुवत् तथा अभिजित् आदि काल की स्थिति का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। सच तो यह है- शैव-योग केवल प्रातः सायं किसी दैवालय में अथवा किसी निश्चित स्थान में आसन लगा कर नियमित रूप से नहीं किया जाता- यह तो दैनिक जीवन की प्रत्येक दशा में, शरीर की प्रत्येक चेष्टा में, प्राणापान की एक-एक तुटि में तथा जाग्रत स्वपन के मध्य में संजग रह कर विमर्शपरायण रह कर ही किया जाता है।

प्रसिद्ध विज्ञान-भैरव-तंत्र में 112 तान्त्रिक धारणाओं का सुन्दर विवरण भी इसी अभिप्राय को

लेकर दिया है कि साधक किसी भी धारणात्मक उपाय का आश्रय लेकर मध्य-धाम में प्रविष्ट हो।

अन्त में हम तो श्री अभिनवगुप्त जी के इस निम्न श्लोक के आधार पर यही कहें कि शैव शक्तिपात से अनुगृहीत बना हुआ साधक ही इस मार्ग में आने की क्षमता रखता है:-

“केतकी कुसुम सौरभे भृशं
भृङ्ग एव रसिको न मक्षिकः
भैरवीय परमाद्वयार्चने
कोऽपि रज्यति महेश चोदितः ॥ तं०-४आ०

इतिशम्

गुरुकृपावगाहिन्ननी
प्रभा देवी

श्रावण-पूर्णिमा - १५-८-२०००



काश्मीर-शैवदर्शन मीमांसायां शिवतत्त्व-निरूपणम्

डॉ० नरेश कुमार शास्त्री *

तनोति सर्वमिति 'तत्' = परं रूपम्, तस्य भावस्तत्त्वम्। तत्त्वानुसन्धानपरैर्विभिन्नदार्शनिकैः परमतत्त्वरूपेण तत्त्वानां संख्या पृथक्-पृथक् स्वीकृता। कैश्चिदेकमेव तत्त्वन्त्वरूपैर्द्वै तत्त्वेऽन्यैस्तु त्रीणि तत्त्वानि परमतत्त्वरूपेण स्वीकृतानि।

वैदिकाऽवैदिकतान्त्रिकदर्शनेषु शैवदर्शनं तन्त्राधृतदर्शनम्। शाखाभेदेन शैवदर्शनं त्रिधा विभक्तम्- द्वैतं, द्वैताद्वैतमद्वैतञ्चेति। अद्वैतवादिशैवदर्शनमेव त्रिकदर्शनमप्युच्यते। त्रिकदर्शनस्य प्रसरण-भूमिः मुख्यतया कश्मीरभूमेवाऽतिष्ठद्, अत एवैतत्त्रिकदर्शनमेव काश्मीर शैवदर्शनाभिधानेनापि दर्शजगति प्रसिद्धिमगात्। कश्मीरप्रदेशे शैवदर्शनस्याद्वैतशाखायाः प्रतिष्ठापक आचार्यस्याम्बकादित्योऽभवत्, तत एव त्र्यम्बकदर्शनमप्यस्यैवापरं नाम, प्रत्यभिज्ञान सिद्धान्तप्रतिपादकत्वात् प्रत्यभिज्ञादर्शनमित्यपराख्या।

शैवदर्शनस्य पूर्णतयाऽद्वैतपरकशाखायाः त्रिकनामकरण-मप्यकारणान्नास्ति। शिवः, शक्तिर्नरश्चेति तत्त्वत्रयविभजनाद्, अथवा प्रकाशो विमर्श उभयोः सामरस्यं चेति तत्त्वनिर्दर्शनाद्; अथवा परा, परापराऽपरा चेति त्रिविध शक्ति तत्त्वाश्रिधायकत्वादेवाऽस्य दर्शनस्य

त्रिकाख्या। पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीवाक्त्रितयमेव परा-परापरा-अपराशक्तित्रितयम्।¹ 'अ-इ-उ'- इत्येताभिः तिसृभिः मामाभिः परादिशक्तयः प्रकाशिताः भवन्ति। अकारेणानुत्तरस्य, इकारेणच्छायाः, उकारेण चोन्मेषस्य बोधो भवति। पराशक्तिरनुत्तरस्य, परापराशक्तिरिच्छायाः, अपरा-शक्तिश्चोन्मेष, स्याभिधायिका। एतदनुत्तरेच्छोन्मेषाख्यमेव वस्तुत्रिकमस्ति येनाऽहमर्थस्य पूर्णपरामर्शो भवति।²

काश्मीर शैवदर्शने त्रिकदर्शने वा परम शिव एवैकं तत्त्वम्। शिवोऽयं न निर्विशेषोऽपितु दिव्यशक्तिमत्त्वाद् विशिष्टः। नाऽयं संसारोऽसन्मिथ्या वाऽपितु शिव इव यथार्थः शिवरूपत्वात्। दर्शनेऽस्मिन् संकोचविकासावपि शिवः, जडचेतनावपि शिवः, विद्याऽविद्येऽपि शिवः, बन्धमोक्षावपि शिवः- नाऽत्र किमप्यशिवोऽपितु सर्व शिव एव।

यद्यपि शिवाद्वैतदर्शने परमं तत्त्वन्त्वेकः शिव एव वर्तते। परन्तु तच्छक्तिजन्यान्यतत्त्वैः सहैषा संख्या षट्त्रिंशद् भवति। दर्शनक्षेत्रे च या सर्वतो विस्तृता गण्यते। मायीमाणव कर्मण-मलानामभावेन न्यूनाधिकभावेन वैतानि तत्त्वानि त्रिधा व्यभजन्त शुद्धसृष्टिः, शुद्धाशुद्धसृष्टिर

1. "त्रिकं परादिशक्तित्रयाभिधायकं शास्त्रम्"- तन्त्रालोकः 1/106
2. "प्राक् पश्यन्त्यथ मध्यान्या वैखरी चेति ता इमाः। परापरापरा देवी चरमा त्वपरात्मिका ॥" तन्त्रालोकः 1/272
3. "तदेव त्रितयं प्राहुर्भैरवस्य परं महः। इत्याद्युक्तनयेनानुत्तरेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकमेव वस्तुतोऽस्ति। यत इदं सर्वमहमिति पूर्णविमर्शः स्यात्"- तन्त्रालोकविवेकः 133/22
4. एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपतः। न भिद्यते न भेदो हि तत्त्वतः परमेश्वरे ॥ बोध पंजाशिका-14

* वेद-व्याकरण-साहित्याचार्य, एम०ए०पी-एच०डी०, अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, दाबा कालेज, जालन्धर

शुद्धसृष्टिश्चेति ।

सांख्योक्तायाः⁵

पञ्चविंशतिगणात्मकसृष्टेरन्तरभावोऽप्येतेष्वेव षट्त्रिंशत्तत्त्वेषु भवति । एतेषाम्मते च सांख्योक्ता सृष्टिः तत्त्वतोऽशुद्धसृष्टिरेव । सांख्योक्तपुरुषोऽपि षट्कञ्चुकावृतः ।⁶ अत एवाशुद्धसृष्टौ परिगणितः । शिवतत्त्वन्तु सर्वावच्छेदशून्यं षट्-त्रिंशच्च ।⁷ षट्त्रिंशत्तत्त्वेषु साक्षात् संविदरूपः परमशिव एवावतिष्ठते । सः स्वयमेव

चैतेषां सर्वेषां कार्यं कारणञ्च, अतो भिन्नानि प्रतीयमानान्यपि स्वरूपतः परमशिवादभिन्नान्येव षट्त्रिंशत् तत्त्वानि । एतेषां तत्त्वानां विकास एव कार्यसृष्टिः, संहारक्रमे च शिवपरमात्मन्येवैतेषामुपरतिः । त्रिकशास्त्रे नेदञ्जगद्विवर्तरूपम्, नाभासरूपम्, न परिणामरूपम् न च शून्यमेव । एतज्जगत् परमशिवस्य स्वातन्त्र्यरूपम् परमशिवस्य परमशिवताया एवाभिव्यक्तिश्चेति ।⁸



-
5. "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्.....पुरुष, इति पञ्च-विंशतिर्गणः"- सांख्यदर्शनम् 1.61
 6. माया कला शुद्धविद्या रागः कालो नियन्त्रणा ।
षडेतान्यावृतिवशात् कञ्चुकानि मितात्मनः ॥ तन्त्रालोक विवेकः 9/204
 7. "सर्वावच्छेदशून्यं शिवतत्त्वं षट्त्रिंशम्" - तन्त्रसारे दशमाहिकम्
 8. 'त्रिकदर्शन का समीक्षात्मक तत्त्वमीमांसीय अध्ययन' - (डॉ० विजयपाल शास्त्री)-पृष्ठम् 132

काश्मीर शैव दर्शन में 'षडध्व' धारणा

ओम कुमार शर्मा *

षडध्व

षट्+अध्व=षडध्व अर्थात् षट्-छः, अध्व = मार्ग, छः मार्गों में विभक्त तत्त्व वा वस्तु षडध्व कहलाती है। परात्रिंशका के विवरण के अनुसार परमभैरव का प्रकाशत्माकांश शिव ही प्रमातृभाव को न त्यागते हुए वाचक होता है और प्रमेयांशावगाहिनी विमर्शात्मिका शक्ति ही वाच्या होती है। भिन्नता जगत् ज्ञाता-ज्ञेया, माता-मेय की दशा में भी वायक ही प्रतिपाद्य प्रतिपादक उभयरूपी प्रमातृस्वरूप से सतत् युक्त ही जगत् रूप में प्रसरित होता है।

शिवात्मक स्वरबीजरूपी फैलाव ही शाक्त व्यञ्जनरूपी योन्यात्मक भाव बनता है। क्योंकि बीज से ही योनि का फैलाव प्रसार होता है।

भर्तृहरि के अनुसार संसार में ऐसा कोई भी प्रत्यय वा ज्ञान नहीं है, जो शब्द के अनुगमन के बिना भी जाना जा सके, अतएव जो कुछ भी ज्ञान दिखाई पड़ता या अनुभव में आता है, वह सभी शब्द के द्वारा ही अनुविद्ध होता है।¹

तथा यदि ज्ञान की शाश्वती वाग् रूपता का उच्छेद

हो जाए तो प्रकाश का भी प्रकाश होना असम्भव होगा, क्योंकि वही वाणी ही प्रकाश का भी प्रत्यवमर्श ज्ञान करवाती है।²

यह जो अनादि निधन ब्रह्म है वही अक्षर शब्द तत्त्व है, जब वह अर्थ के भाव में विवर्तित होता है, तो इस जगत् की सृष्टि होती है।³

एवञ्च यह जो आन्तरिक ज्ञाता है वह सूक्ष्म वाक्, परावाक् रूपी परामर्श में स्थित रहते हुए, अपने रूप का प्रकाश करने के लिए शब्द के रूप में वाचक परिणत वा विवर्तित होता है।⁴

वसुगुप्त की स्पन्द कारिका के अनुसार "जो सत्य, पररूप, सूक्ष्मतम, निरवद्य व अनुत्तर परम ब्रह्म कहलाता है, वही परमशान्तब्रह्म अकारादि वर्णों के रूप में परिणत हो जाता है।"⁵ महेश्वरानन्द की रचना महार्थमंजरी के अनुसार, "इस परमतत्त्व की प्राप्ति के उपाय स्वरूप ज्ञान बहिर्जगत् व अन्तर में प्रकाशित होता है, क्योंकि ज्ञान के बिना न तो अर्थ की सत्ता ही प्रकाशित हो सकती है, व न ही जगत्। अतः जगत् ज्ञानरूप ही है। तथा ज्ञान के बिना कोई भी भावादि विषयों को अनुभव

1. "शिव एव प्रमातृभावमत्यजन् वाचकः स्यात् प्रमेयांशवगाहिनी च शक्तिरेव वाच्या,.....बीजादेव योनेः प्रसरणात् इति ॥" परात्रिं० वि०, पृ० 148-149
2. "न सो प्रत्ययोऽस्ति लोके यः शब्दानुगमादुते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते ॥" वा०पदी
3. "वाग्पुता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाश प्रकाशेत् स हि प्रत्यवमर्शिनी" (तदेव)
4. "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दात्त्वं यदक्षरं। विवर्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः।" तदेव।
5. "अथायमान्तरोज्ञाता सूक्ष्मेवात्मनि स्थितः। व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते।" (वा०पदी०, उद्ध०स्प०का०, पृ० 53)
6. "सत्यं परागतं सूक्ष्मं निरवद्यमनुत्तरम्। अथ ब्रह्मपरं शान्तमादिवर्णत्वयागतम्।" (तदेव, पृ० 52)

नहीं कर सकता। अतएव ज्ञान आत्मा से आने के कारण वह ज्ञानरूप में ही समाप्त होती है।”

इस प्रकार से यह सहस्रशः बार कहा गया है कि परमशिव वा भैरव का ही उक्त षडध्वा के द्वारा दृश्यमान जगत् के रूप में प्रसार होता है। इसी की यह षडध्वात्मिका क्रिया किस प्रकार से प्रचलित होती है? उसका दिग्दर्शन यहां करते हैं।

आगमों में षडध्वा ही सर्वतन्त्रसिद्धान्त के रूप में प्रसिद्ध हैं। वे वाच्य व वाचक भेदों में ही विकसित होते हैं। यहां प्राथमिकी द्विविध विभागमयता से ही इनका क्रमशः विकास होता है।

यह पर भैरव की परस्परौन्मुख्यावस्था अथवा “चिदानन्द” अवस्था होती है, वही शिवशक्ति,² वाच्यवाचक, शब्दार्थ,³ आदि कहलाती है। उनका परस्पर

जो प्रत्येक का स्थूलसूक्ष्मपर क्रम आभास होता है, उसी से षडध्व का निर्माण होता है। अर्थात् वाच्यवर्ग व वाचकवर्ग क्रमशः कला, तत्त्व, भुवन व वर्ण, पद मन्त्र के रूप में इन दोनों प्रकाश-विमर्शाख्य तत्त्वों का पर, सूक्ष्म व स्थूल अवस्थाओं में क्रमशः आभास होता है। इन षट् तत्त्वों का आगमानुसार विवरण निम्नप्रकार से है-

वर्ण पचास ‘अ’ से लेकर ‘ह’ तक हैं। ‘पद’ अनन्त होने पर भी व्योमव्यष्ट्यादि मन्त्र की मर्यादा से ‘इक्कयासी’ हैं।

इसी प्रकार ‘मन्त्र’ भी अनन्त होने पर ब्रह्मपञ्चक छः अंश होने से ‘एकादश’ हैं, ‘कलाएं’ ‘निवृत्ति’, ‘प्रतिष्ठा’, ‘विद्या’, ‘शान्ता’ व ‘शान्त्यातीत’ ये पाञ्च हैं। ‘तत्त्व’ छत्तीस शिवादि पृथिवीपर्यन्त हैं, तथा ‘भुवन’ दौ सौ चौबीस ‘कालाग्नि रूद्र’ से लेकर ‘अनाश्रितान्त’ हैं।⁴

इस परावागन्तर्गत छत्तीस तत्त्वों, 81 पदों, 11 मन्त्रों, 5 कलाओं, 50 वर्णों व 224 भुवनों का वर्णन निम्न प्रकार से है।

वर्ण	वाचक				वाच्य
	पद	मन्त्र	कला	तत्त्व	भुवन
50	81	11	5	36	224
“क्ष”-1	28	2	निवृत्ति	पृथिवी-1	118 कालाग्निरूपद्र से भद्रकाल्यान्त
“ह” से “अ”-23	21	2	प्रतिष्ठा	जल से प्रकृति-23	56 अमरेश-श्रीकण्ठ
“घ” से “ज”-7	20	2	विद्या	पुरुष से माया-7	27 भीम-अङ्गुष्ठ
“ग” से “ख”-3	11	2	शान्ति	शुद्धविद्धा-ई०स०शि०-3	18 कला-सदाशिव
“अ” से “अः”-16	1	3	शान्तातीता	शिवतत्त्व-1(शक्तियुक्त)	5 निवृत्ति-अनाश्रित

1. “तदुपायतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते। ज्ञानादृते नार्थं सत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत् ॥
न हि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः। ज्ञानं तदात्मतयायातमेतस्मादवसीयते ॥” (म०म०पृ०१)
2. “वागार्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थं प्रतिपत्त्ये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतिपरमेश्वरौ।” (रघु०प्र०स०१)
3. “भावनी शङ्करौ वन्दे श्रद्धा विश्वासरूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्तस्थमीश्वरम् ॥” (राम०मा०, मं० 2)
4. “वर्णा पञ्चाशत् लोक प्रसिद्धा.....पदानि एकाशीतिः, मन्त्राश्च.....एकादशः
कला निवृत्त्यादयः पञ्च तत्त्वानि षट्त्रिंशत्, भुवनानि.....चतुर्विंशत्यधिकशतद्वयम्।” (म०मं०पृ० 65)

यहां आचार्य क्षेमराज के अनुसार यह भुवनादि संख्या का विभाजन किञ्चित् भिन्न है- जैसे-

कलाएँ	भुवन
निवृत्ति	16
प्रतिष्ठा	56
विद्या	28
शान्ता	18
शान्तातीता	- = 118

इस प्रकार से प्रति निवृत्ति, विद्या व शान्तातीता कला की संख्याओं में भिन्नता है।¹

यहां कला-तत्त्व-भुवन जोकि अभिधेयभूत है, वाच्य है, जो प्रकाशरूप हैं उन्हें पूर्व में तथा अभिधानभूत, वर्ण-पद-मन्त्र को जो वाचक, विमर्शरूप हैं, पश्चात् कहा गया है। इस प्रकार से वाच्यवर्ग प्रकाशपरमार्थ है और वाचकवर्ग विमर्शवपुं है, जोकि प्रकाशविमर्शात्मक परमभैरव या परमशिव का यामल स्वभावरूप उल्लास मात्र है।²

यह वाचक-वाच्यात्मक रूप में परिणत होते हुए जगत् अपनी सत्ता का अवबोध, आभास करवाता रहता है। अब इस अवस्था में यह विचारणीय हो जाता है कि क्या बीज जिस प्रकार अपने स्वरूप का परित्याग करके अंकुर, वृक्ष, पत्र, पुष्पादि रूप में परिणत होते हुए रहता है, उसी प्रकार यह प्रकाश-विमर्शात्मक तत्त्व भी

स्वस्वरूप उज्झित करके क्या स्थूल रूप में स्थित रहते हैं या अनुज्झित रूप में ?

यह अत्यन्त चिन्तनीय बिन्दु है और यही शिवाद्वयनयवाद, शैवागमानुसार परमसत्ता अपने परमार्थिक रूप से जगद् रूप में अवभासित होने पर भी च्युत नहीं होती। अतः उसको अक्षररूपा कहा गया है।

स्वातन्त्र्यवाद, ऐश्वर्यवाद की सिद्धि का चरम हेतु बनता है। अस्तु। यहाँ वैदिक सिद्धान्तानुसार भी शिवाद्वयनय की सिद्धि होती है। वह अपने देह का निर्माण करके उसमें प्रविष्ट हो गया³ अतएव जगत् व ब्रह्म वा भैरव वा परमशिव का अभेद ही सिद्ध होता है। वाचक-वाच्यरूप भेद में भी वह प्रकाशमात्र ज्ञानमय अभेद अनुस्यूत रहता ही है। यही ज्ञातव्य, प्राप्तव्य व



1. "निवृत्तौ कलायां क्षकारेको वर्णः..... प्रतिष्ठायां हादयष्टान्ताः वर्णाः त्रयोविंशतिः.....विद्यायां जादि घान्ताः सप्तवर्णाः.....शान्तौ तु गखकः त्रयोवर्णाः.....शान्तातीतायां च वर्णाः षोडशस्वराः,.....पञ्च भुवनानि इति विवेकः" (म०मं० पृ० 65-66)
2. "तत्र भुवनादि प्रथममभिधेयभूतं वर्णमन्त्रादिद्वितीयमभिधानमिति विवेकः। तथा च सति वाच्यवर्गः सर्वोऽपि प्रकाशपरमार्थः, वाचकोल्लेखस्तु शिव्य प्रकाशविमर्शात्मनः यामलमुभयसंसर्गारणि स्वभाव उल्लासः।" (म०मं० पृ० 67)
3. "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (वृ०उप०)

काश्मीर शैव दर्शन: यथार्थवादी प्रत्ययवाद : एक व्याख्या

डॉ० उमा पाण्डेय रीडर (से०नि०)*

वर्तमान शोध लेख में काश्मीर शैव दर्शन की यथार्थवाद और प्रत्ययवाद दृष्टिकोणों से व्याख्या करने का प्रयास किया गया है, क्योंकि इस दर्शन को विद्वान् यथार्थवादी प्रत्ययवाद Realistic Idealism की कोटि में रखते हैं। वस्तुतः यथार्थवाद और प्रत्ययवाद की अवधारणा हमें पाश्चात्य दर्शन से मिली है जिसका आधार डेकार्ट का जड़-चेतन-matter-mind -रूप द्वैतवाद है। इस द्वैत को ध्यान में रखते हुए ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से पाश्चात्य विचारक अपने यहाँ के दार्शनिकों को यथार्थवादी या प्रत्ययवादी कोटि में विभाजित करते हैं। पाश्चात्य चिन्तन का अनुसरण करते हुए काश्मीर शैवदर्शन को यथार्थवादी प्रत्ययवाद माना जाता है।

सर्व प्रथम यथार्थवाद को स्पष्ट किया गया है। इसके अनुसार वस्तु या Reality की सत्ता मानव चेतना के अधीन नहीं है। यह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है और इसका बोध हमें ज्ञानेन्द्रियों से होता है। वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने के फलस्वरूप यथार्थवादी बाह्य जगत् को सत्य मानता है। साथ ही इन्द्रियजन्य ज्ञान को यथार्थ और प्रामाणिक स्वीकार करता है। अतः जिस दर्शन में बाह्य जगत् को सत्य या यथार्थ माना जाता है और ऐन्द्रिय ज्ञान को वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशक होने से प्रामाणिक माना जाता है वह यथार्थवादी दर्शन कहलाता है।

प्रत्ययवाद शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रत्यय' या Idea पद से हुई है जो चेतन मन का धर्म है। अतः यहाँ वस्तु या Reality मन सापेक्ष है। फलतः इस मत में अनुभूति से स्वतन्त्र बाह्य जगत् की सत्ता नहीं है। यहाँ वस्तु और

अनुभूति को एक रूप माना गया है। इस दृष्टि से भौतिक जगत् मन की अभिव्यक्ति है। ध्यान रहे कि पाश्चात्य चिन्तन में मन या mind को चेतन माना गया है। फलतः प्रत्ययवाद में परमसत् ultimate reality चेतन है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इस मत के अनुसार चेतन मन की पूर्व सत्ता है जबकि जड़ सत्ता इस पर आश्रित है। इसके सापेक्ष है। यहाँ ऐन्द्रिय ज्ञान की अपेक्षा बौद्धिक ज्ञान को प्रामाणिक माना गया है।

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों को, परम सत्ता Ultimate Reality के जड़ या चेतन के आधार पर, द्वैतवादी या अद्वैतवादी की कोटि में रखा गया है। फलतः जहाँ चार्वाक जड़वादी दर्शन है वहीं सांख्य, न्याय आदि परमसत्ता के रूप में जड़ प्रकृति और भौतिक परमाणुओं के साथ-साथ चेतन पुरुष की भी सत्ता स्वीकार करने से द्वैतवादी दर्शन है। जबकि अद्वैतवेदान्त में परमसत् रूप में चेतन ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करने से तथा भौतिक जगत् को मिथ्या कहने से यह अद्वैतवादी दर्शन है।

काश्मीर शैव दर्शन परमसत् की दृष्टि से अद्वैतवादी है। यहाँ परम सत् को परमशिव नाम दिया गया है जो प्रकाश और विमर्श रूप है। प्रकाश इसकी ज्ञान शक्ति है और विमर्श इसकी क्रिया शक्ति। परमशिव सत्-चित् है तथा अपनी विमर्श शक्ति के माध्यम से इस बाह्य जगत् को उत्पन्न करता है। यहाँ जगत् चूँकि परमशिव की क्रिया शक्ति की अभिव्यक्ति है अतः इसे भी सत्य माना गया है। परम शिव का बोध यहाँ परानुभूति से होता है और जगत् का बोध इन्द्रियों से। चूँकि काश्मीर शैव

* भोपाल विश्वविद्यालय (म०प्र०)

दर्शन यथार्थवाद और प्रत्ययवाद की मान्यताओं को पर्याप्त सीमा तक पूरा करता है अतः इसे यथार्थवादी प्रत्ययवाद की कोटि में रखा जाता है।

भौतिक विज्ञान, विज्ञान होने से यथार्थवादी Realistic Science माना जाता है। लेकिन आज का भौतिक विज्ञान, विशेषरूप से क्वेन्टम फिजिक्स के मूल

में चेतन या consciousness को स्वीकार करने से तथा सृजन के मूल में शक्ति या energy को स्वीकार करने से आज का भौतिक शास्त्र पर्याप्त सीमा तक यथार्थवादी प्रत्ययवाद की कोटि में रखा जा सकता है। इसके कई सिद्धान्त काश्मीर शैवदर्शन से समानता रखते हैं। अतः दोनों को ही यथार्थवादी प्रत्ययवादी कहा जा सकता है।



वेदों में 'रुद्र-शिव' देवता एक दृष्टि

डॉ० कृष्णापाल सिंह *

वेदों में रुद्रदेवता के स्वरूप निर्धारणार्थ हमें ऋग्वेदीय रुद्र सूक्तों, यजुर्वेदीय रुद्र सूक्त जोकि बाजसनेयी संहिता का 16 वाँ अध्याय है; काण्वसंहिता का 17वाँ अध्याय : मैत्रापणीसंहिता काठकसंहिता, कपिष्ठल कठसंहिता, तैत्तिरीय संहिता एवं अथर्ववेद में रुद्र-शिव देवता विषयक अनुशीलन करने की अपेक्षा है। यजुर्वेदीय रुद्राध्याय में रुद्रदेवता का विस्तृत विवेचन मिलता है। इस अध्याय में रुद्र-शिव के विभिन्न नामों का उद्देश्य मिलता है। अथर्ववेद में रुद्र के सात (7) नाम प्राप्त होते हैं यथा-ईशान भव, शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र और मतादेव। ब्राह्मण ग्रन्थों में रुद्र को उषस् का पुत्र बतलाया गया है। शतपथ एवं कौपीतिक ब्राह्मण में रुद्र के आठ नामों का वर्णन मिलता है जिनमें सात नाम यजुर्वेदीय नामों से सम्बन्धित हैं। आठवाँ नाम 'अशनि' (उल्कापात) बतलाया गया है। इनमें से रुद्र, शर्व, उग्र एवं अशनि ये रुद्र के संहारक रूप के प्रतीक हैं जबकि भव, पशुपति, महादेव और ईशान आदि चार नाम शान्त एवं जगत्प्रतिपालक एवं उत्पादक के रूप के द्योतक हैं। उपनिषदों में रुद्र परमात्मा के रूप में द्रष्ट होता है। गृह्यसूत्रों में रुद्र, शर्व, उग्र, भव, पशुपति, महादेव, ईशान, हर, मृद, शिव, भीम एवं शंकर इत्यादि रुद्र नाम वैदिक प्रतीकों के प्रख्यापक हैं।

उपर्युक्त रुद्र नाम एक ही देवता के गौणिक नाम हैं। यजुर्वेदीय रुद्राध्याय में रुद्र नामों को निम्न चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

1. मानवरूप में रुद्र - ज्ञानवाद् पुरुष है। इस वर्ग के रुद्रों की ब्राह्मण संज्ञा है। कल्पिम उदाहरण द्रष्टव्य हैं। गृत्सः ज्ञानी कवि एक ऋषि (यजु० १६/२५) : गृत्सपति = गृत्सों के अधिष्ठाता: ज्ञानियों में श्रेष्ठ। (२५)

श्रुत = विख्यात, प्रसिद्ध, विद्वान्, श्रुतिकेता (३५) पुलिस्त = विद्वान् (43) रुद्र = रु (शब्दशास्त्र का (द्र) यारंगत, ज्ञानी (18) इसी प्रकार मंत्रों में अधिवक्ता, देवानाह्वयः भिषक्, दैव्योभिषक् (१६/५), आयुर्वृध औषधीनां पतिः, सभापतिः श्रवः, प्रतिश्रवः, प्रतिसत्रेः शेलक्यं प्रमृशः यदामर्शदाताविद्वान्। इत्यादि रुद्रनाम यजुर्वेदीय रुद्राध्याय आदि में ब्राह्मण वर्ग से सम्बन्धित है।

2. क्षत्रियवर्ग के रुद्र=वीर-रुद्र :- शोदमति इति रुद्रः=जोरुलाता है वह रुद्र है। शत्रुओं, दुष्टों आततायियों, डाकुओं, लुटेरों, अराष्ट्रवादी तत्त्वों को जो रुलाता है दण्डित करता है वह राजा नेता, मंत्री, सेना, सैनिक, सेनापति, सुरक्षाबल पुरुष इत्यादि रुद्र संज्ञक होते हैं। अतः शत्रुओं को रुलाने के कारण वीर-सैनिक रुद्र संज्ञक हैं। क्षत्रियवर्ग के रुद्रनाम निम्न प्रकार हैं-तवस, क्षेत्राणांयतिः, स्थपति, भूतानां अधियतिः, बनानां पतिः, अरेण्यानां पतिः, पथिरक्षिन्, कक्षाणांपतिः पत्नीनां पतिः सेनाओं के पालक सेनापतिः आध्याधिनीनां पतिः, विकृतानां पतिः कुलुञ्चानापतिः, गणपतिः ज्ञातपति, सेवा, व्रात, गण, शूर, क्षयद्वीर, उग्रः, भीमः निचिन्तत्कः, विकिरिद्रः रथी अरथी, आशुरथः उगण, पथीनां पतिः इत्यादि अनेक क्षत्रिय वर्ग के रुद्र नाम वैदिक संहिताओं में मिलते हैं।

3. वैश्यवर्ग के रुद्र : इस वर्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित रुद्र नामों का संग्रह किया जा सकता है यथा-वणिज, संग्रहीतां वदिवस्कृतः, घतोत्पादकः अन्धसम्पति, अन्नानां पतिः, वृक्षाणां पतिः, पशुपतिः, पशूनां पतिः, अश्वपतिः श्वनी पुष्टानां पतिः, जगतां पतिः। वैश्य का सम्बन्ध कृषि वृक्षसंवर्धन और पशुपालन से है। अतः ये रुद्र इस वर्ग के अन्तर्गत संग्रहीत किये गये हैं।

* डी०ए०वी० कॉलेज, अजमेर।

4. **शूद्र-शिल्प वर्ग के रुद्र:** ज्ञान वर्ग के अन्तर्गत शिल्प वर्ग के रुद्र नामों का परिगणन किया गया है शिल्प में सब कारीगरों मजदूरों का नाम ग्रहण होता है। यथा-सूत, क्षत्ता, तक्षा, रथकारः, धनुष्क-त् इषुकृत् कार्गारः, लुहारः, कुलालः, निषादः, पुञ्जिष्ठः, गिरिचर, गिरिशयः, गिरिशन्त (पहाड़ी लोग) उत्तरणः प्रतरणः तार, अहन्यः मि सूतः हनतरेनचानेवाला सूत, परिचरः निचेरुः नौकरी करने वाला, जघन्यः इत्यादि रुद्रनाम प्रायः वैदिक संहिताओं में कारीगरों तथा अन्यान्य व्यवहार करने वालों के वाचक हैं।

5. **आततायी वर्ग के रुद्र:** इस वर्ग में आततायी, स्तेनानांपतिः, तस्कराणां पतिः, मुष्णतां पतिः, स्तागूनां पतिः, वञ्चत् परिवञ्चत्, लोप्य, नकलंचरत् इत्यादि नाम चोर डाकू लुटेरे, छली, कपटी, आततायियों दुष्टों के हैं।

6. **प्राणियों में रुद्र दर्शन :** इस वर्ग में विभिन्न प्राणियों के नाम रुद्र प्रतीक के रूप में हैं। यथा अश्वः, श्वाः ब्रज्य, गोष्ठयः, शांभ्यः (वैल आदि) : गेह्यः, किरिकः इरिव्यः, पांसव्यः, रजस्यः, द्रव्यः, उर्वर्यः, खल्यः, सूर्यः, अवस्यः, मध्यः, का रूप है, कुथः, कुल्पः, कूल्यः, सरस्यः, नादेयः, फेन्यः, दूषितः इत्यादि अनेक रुद्र नाम इस वर्ग के अन्तर्गत परिगणित किये जा सकते हैं।

7. **सामान्य रुद्रसंज्ञक नाम:** इस वर्ग के अन्तर्गत उपवीति, उष्णीषी हिरण्यवाहुः कपर्दी, व्युपाकेशः, विशिकासः, सोम्यः, ग्राम्यः, क्षेग्य, आशु, शीघ्नाः, अजिर, महान्, सवृद्ध, पूर्वज, ज्येष्ठ बृहत्, वृद्ध, अभिक्, हावः, वागन्, मध्यम, अपरजः कनिष्ठ, अवराज्य, बुदनाः, अप्रगल्ला ताम्र, अरुण, विलोहित बभु शीपंजर, आक्रन्दयव्, उच्चैर्घोषः स स्वपत्, जाग्रत, शयानः आसीन्, तिष्ठत्धावत्, इत्यादि सामान्यव्यवहार वाचक रुद्र नाम वेदों में आये हैं।

8. **वृक्षरूपी रुद्र :** वृक्ष, हरिकेश (हरे रंग वाले पत्ते रूपीकेश जिनके होते हैं) ऐसे रुद्र = वृक्षसंज्ञक हैं।

9. **कृमिरूपी रुद्र :** ये अनेक विविध्यन्ति पात्रेषु

जिवतो जनान इति मंत्रवर्णप्राप्त होते हैं। अर्थात् सूक्ष्म रोग कृमि रुद्रसंज्ञक हैं।

10. **ईश्वरवार्चा रुद्र :-** यजुर्वेदीय रुद्राध्याय में रुद्र को विश्वरूप कहा गया है यथा= विश्वरूपः, विरूपः भव=सबका उत्पादक शर्त=प्रलयकर्ता, भगवः ईशानः, भवस्पहेतिः इत्यादि अनेक हैं। उपनिषदों में रुद्र सृष्टि स्पति और लयकर्ता है उसका स्वरूप निष्कल, निष्कलंक, निरंजन, जन्मादि रहित बतलाया गया है।

11. **कल्याणकारी रुद्र:** = रुद्र का कल्याणकारी स्वरूप संहिताओं ब्राह्मणों, उपनिषदों में बहुत्र उपलब्ध होता है। रुद्र के कल्याणकारी नामों से ही उक्त स्वरूप का निर्धारण होता है। यथा-शिव, शिववर, शिवतम, शम्भु, शङ्कर, मयोभव, मयस्कर, अघोर-जोघोर अर्थात् भयानक नहीं है जो शान्त स्वरूप का निर्धारण होता है यथा-शिव, शिववर, शिवतम, शम्भु, शङ्कर, मयोभव, मयस्कर, अघोर-जोकारे अर्थात् भयानक नहीं है जो शान्त स्वरूप है, सुमङ्गल, शङ्खु= शान्ति सुखप्रदाता, मीठुष्टम, त्विषमित्, विद्युत्य, शिपिविष्ठ सहस्राक्षः इत्यादि कल्याणकारी रुद्र परमात्मा के रूप में वर्णित हैं। ब्राह्मणसाहित्य में उपनिषदों में भी प्रायतः रुद्र को ईश्वर के रूप में वर्णित है। ब्राह्मणसाहित्य में उपनिषदों में भी प्रायः रुद्र को ईश्वर के रूप में वर्णित किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर अभय, पवित्र, सच्चिदानन्दस्वरूप, परमपुरुष, निराकार, निर्विकल्प, निर्क्षेद इत्यादि रूप में रुद्र शिव का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। वही इस जगत का उत्पादक, स्थिति और लय (संहारक) कर्ता है। उस शिव के स्वरूप के जाने बिना दुःख का तीनों कालों में अन्त सम्भव नहीं है। अतः सर्वव्यापी, गूढ़, सर्वशक्तिमान, सर्वशासक की प्रार्थना उपासना और स्तुति भक्ति करने से मानव जीवन से मानव जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की समुपलब्धि हो सकती है। इति ।



काश्मीर शैवदर्शन पर एक विहङ्गम दृष्टि

डॉ० पूर्णानन्द पूर्ण पंथी *

काश्मीर शैवमत को प्रत्यभिज्ञा-दर्शन और त्रिक-दर्शन भी कहते हैं। यह स्वातन्त्र्यवाद, ईश्वराद्वयवाद तथा शिवादैत के नामों से भी विख्यात है। काश्मीर शैव दर्शन के मूल स्रोत शैवागम या तन्त्र है।¹ दार्शनिक दृष्टि से शिवसूत्र इस मत के आधार सूत्र हैं। जिनके लिए यह प्रसिद्ध है कि वे आचार्य वसुगुप्त को स्वप्न में भगवान् शिव से प्राप्त हुए थे।

इस मत में एक अद्वय शिव ही परम तत्त्व है जो परमात्मा, परमेश्वर, परमशिव, अनुत्तर आदि नामों से अभिहित हैं। परमात्मतत्त्व होने के कारण शिव शुद्ध चैतन्य हैं। किन्तु यह चैतन्य, अद्वैत वेदान्त के समान, ज्ञातृ-ज्ञेय या विषयि-विषय रहित या क्रियाशून्य नहीं है। चैतन्य स्वरूप परमात्मत्व को शक्तिरूप मानना इस दर्शन की विशेषता है। परमशिव पराशक्ति स्वरूप है। शिव और शक्ति परस्पर पृथक् नहीं रह सकते, चन्द्र और चन्द्रिका के समान उनमें कोई अन्तर नहीं है। शिव प्रकाश रूप है और शक्ति विमर्शरूप है।²

काश्मीरीय शैवदर्शन को प्रत्यभिज्ञादर्शन के नाम से अभिहित किया जाता है। यह बहुत प्राचीन दर्शन है। इसकी व्यापकता काश्मीर प्रान्त में थी। अतएव इसी नाम से यह प्रसिद्ध भी है। आगमाचार्य अभिनवगुप्त इसके सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक है।³

इस दर्शन में शिव शक्ति में कोई अन्तर नहीं है, प्रकाश नाम शिव का है तथा विमर्श नाम शक्ति का। प्रकाश विमर्शात्मक और विमर्श प्रकाशात्मक होता है। शक्ति के बिना शिव को अपने चैतन्य का भी अनुभव नहीं हो सकता क्योंकि आत्मचेतना विमर्शरूप है। शक्ति के बिना शिव शव है क्योंकि शक्ति के बिना शिव में स्पन्दन भी नहीं हो सकता। शक्ति से शिव को अपने चैतन्य का, प्रकाश का, स्वातन्त्र्य का और आनन्द का अनुभव होता है। शिव और शक्ति कल्पना में दो हैं, किन्तु वास्तव में एक हैं। अद्वैत का अर्थ है तादात्म्य या अपृथक् सम्बन्ध। शिव और शक्ति चिद्रूप होने के कारण मूलतः एक हैं। दोनों में पूर्ण सामञ्जस्य या समन्वय या सामरस्य है। शिव शक्ति सामरस्य ही इस दर्शन की विशेषता है।

जगत् और जीव शिव स्वरूप ही हैं। सृष्टि शिव की लीला का विलास है। शिव अपनी चित्-शक्ति से, अपने स्वातन्त्र्य और आनन्द के कारण, नाना प्रकार से स्फुरित हो रहे हैं। स्वयं को नाना रूपों में अभिव्यक्त करना शिव का स्वातन्त्र्य है। इसी स्वातन्त्र्य के कारण वे सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह, और अनुग्रह के पञ्चकृत्यों में प्रवृत्त होते हैं। विचित्र सृष्टि संहार की लीला चलती रहती है। परमशिव अपने भीतर अपने द्वारा अपने ही

1. भारतीयदर्शन: आलोचन और अनुशीलन चन्द्रधर शर्मा पृष्ठ 332

मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा० लि० दिल्ली।

2. भारतीय दर्शन पृष्ठ 332

3. भारतीय दर्शन-लेखक उमेश मिश्र उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग) राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन हिन्दी भवन महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ पृ० 380

4. "शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि" "वसुगुप्त"

* वरिष्ठ सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर 342 006 (राज०) फोन - 0291, 548241

ऊपर इन विचित्र विश्व-आभासों का उन्मीलन करते हैं। इसके लिए उन्हें न किसी उपादान की आवश्यकता है और न किसी भित्ति या आधार की। समस्त जड़ चेतन पदार्थ दर्पण-प्रतिबिम्बवत् शिव के आभास हैं। ये न परिणाम हैं न विवर्त। चित् शक्ति उन्मीलन होने के कारण ये आभास सत्य हैं। इनको शिव के बाहर या शिव से भिन्न मानना ही अज्ञान है। शिव विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण दोनों हैं। विश्वात्मकरूप में परम शिव समस्त विश्व में अन्तर्यामी और व्यापक है। किन्तु वे विश्व में सीमित नहीं हैं। अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण वे विश्वातीत भी हैं।¹

प्रत्यभिज्ञादर्शन की मान्यता है कि जैसे चित्रकार जब कोई चित्र बनाता है तब उसे दो वस्तुओं की आवश्यकता बनी रहती है। आधार तथा सामग्री उसे हमेशा आवश्यक होती है। किसी पदार्थ के ऊपर ही चित्र बनाया जाता है। (आधार) तथा उसे बनाने में रंग आदि चीजों की सहायता होती है (सामग्री), परन्तु जगत्-रूपी चित्र बनाने वाले चित्रकार शङ्कर की लीला विचित्र होती है। जगत्-चित्र के लिए न तो कोई आधार है और न कोई सामग्री। बिना इनकी सहायता से वे स्वयं अपनी इच्छाशक्ति से अपने आप में ही इस जगत् का आविर्भाव करते हैं। इसलिए वे अन्य भौतिक कलाकारों से नितान्त विलक्षण होने के हेतु 'कलानाथ' या कलाश्लाघ्य, विशेषण से संकेतित किए जाते हैं।²

इस दर्शन में छत्तीस तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। ये तीन भागों में विभक्त हैं— शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मतत्त्व। शिवतत्त्व के अन्तर्गत शिव और शक्ति आते हैं। विद्या तत्त्व के अन्तर्गत सदाशिव, ईश्वर और

शुद्धविद्या नामक तीन तत्त्व आते हैं। ये पांचों तत्त्व शुद्ध अघ्वा या शुद्ध सृष्टि कहलाते हैं।

आत्मतत्त्व के अन्तर्गत 31 तत्त्व आते हैं। छठातत्त्व (6) 'माया' है। यहीं से अशुद्ध अघ्वा या अशुद्ध सृष्टि का प्रारम्भ होता है। माया शक्ति 'अहम्' और 'इदम्' को अलग-अलग कर देती है। माया पांच 'कञ्चुक' या आवरणों की सृष्टि करती है जो शक्ति को परिच्छिन्न बनाते हैं। (7) कला (कर्तृत्वसंकोच), (8) विद्या (सर्वज्ञता संकोच), (9) राग (नित्यतृप्ति-संकोच) (10) काल (नित्यत्व संकोच), और (11) नियति (स्वातन्त्र्य-संकोच)। इन कञ्चुकों से आवृत जीव बारहवां (12) पुरुष संज्ञक तत्त्व है। शेष चौबीस तत्त्व सांख्य-सम्मत (13) प्रकृति और उससे उत्पन्न तेईस तत्त्व हैं जिनमें (14) महत्, (15) अहंकार, (16) मनस् (17-21) पञ्चज्ञानेन्द्रियां, (22-26) पञ्चकर्मेन्द्रियां, (27-31) पञ्चतन्मात्रा, और (32-36) पञ्चमहाभूत आते हैं। ये काश्मीर शैवदर्शन के 36 तत्त्व हैं।

इस दर्शन में इसे कामिनी के उदाहरण से समझाया गया है। एक नवयुवती किसी व्यक्ति के गुणों के श्रवण से ही उस पर आसक्त हो जाती है। वह प्रेमपत्र लिखकर अपनी विश्वस्त दूती के द्वारा उसके पास भेजती है तथा उसे अपने पास मिलने के लिए बुलाती है। वह व्यक्ति उसके पास आता है।³ नवयुवती उसे देखती है, किन्तु पहचानती नहीं, अतः उसे सामान्य जन मान लेती है। परन्तु जब दूती उस व्यक्ति का परिचय देती है और नवयुवती उसे पहचान लेती है तो वह आनन्दविभोर हो जाती है। इसी प्रकार कामिनी का पूर्व दृष्ट प्रियतम या प्रवांसी पति छद्मवेश में उसके पास आता है और वह

1. 'सर्वईदर्शन संग्रह' पृष्ठ 316, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी

2. भारतीय दर्शन पृ० 496

आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर वाराणसी

3. पौरुषं पुनर्ज्ञानमुदितं सत् अन्यनिरपेक्षमेव मोक्ष कारणम्। तन्त्रलोक 1, 24

उससे मिलती है किन्तु पहचान नहीं पाती, अतः उसे आनन्दानुभव नहीं होता। परन्तु जब उस व्यक्ति का छद्मवेश हटने से या उसमें स्वरूप लक्षण प्रकट होने से वह कामिनी उसे पहचान लेती है तो आनन्द-मग्न हो जाती है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य को भी यह दर्शन प्रत्यभिज्ञा द्वारा प्रकाशित करता है। पुरुष माया के कारण अपूर्ण ज्ञान से स्वयं को अपूर्ण-शक्ति सम्पन्न ससीम आत्मा मान लेता है तथा उसे अपने शिव-स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। जब गुरु उसे बताते हैं कि 'तू ही शिव है' और उसका श्रवण, अध्ययन, मननादि से सम्पन्न बौद्धिक

ज्ञान, शिव के अनुग्रह, गुरु की दीक्षा और स्वयं की साधना से अपरोक्ष अनुभूति या प्रत्यभिज्ञा या पौरुष ज्ञान में परिणत हो जाता है तो वह अपने वास्तविक शिव-स्वरूप को, पूर्णाहन्ता के चिदानन्द को, चित्-शक्ति के पूर्ण स्वातन्त्र्य और आनन्द को प्राप्त कर लेता है। यही मोक्ष या मुक्ति है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन जीवन्मुक्ति को स्वीकार करता है। पुरुष ज्ञान द्वारा अज्ञान रूपी आणवमल के दूर हो जाने पर संदेह अवस्था में भी मुक्ति सम्भव है क्योंकि जीवन्मुक्त सब आभासों को शिव रूप देखता है।



1. तैत्तिरीय उपनिषद् चित्तैरु पनतस्तस्याः स्थितोऽस्यन्ति के। कान्तो लोकसमान एवम परिज्ञातो न तुं यथा। लोकस्यैष तथा नवैक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो। नैवायं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥ सर्वदर्शन संग्रह पृ० 321 (ईश्वर प्रत्यभिज्ञा 4,2,2)

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में अज्ञान

डॉ० राजेन्द्र कुमार शर्मा*

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार पर चैतन्य संज्ञा से अभिहित पर शिव अपने स्वातंत्र्य के उल्लास में आकर अपने को विभिन्न सीमाओं, अपूर्णताओं और विपरीतताओं के रूप में सदैव उल्लासित करता रहता है। इसके फलस्वरूप पर शिव, जो कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में सर्वोपरि तत्त्व के रूप में मान्य है का स्वात्मा-बोध इतना छिप जाता है कि वह विश्वोत्तीर्ण अव्यवस्थाओं आदि का कारण बन जाता है। यह अज्ञान ही परमेश्वर

की ऐसी शक्ति है जो जीव को इदन्तामय जगत् में उलझाये रखती है। यह एक ऐसी बन्धयित्री शक्ति है जिसको जाने बिना जीव व्यावहारिक जीवन में तो दुःखी रहता ही है, इसके साथ-2 अपने पर गन्तव्य स्वात्म प्रत्यभिज्ञान में असमर्थ रहता है। प्रस्तुत शोध पत्र में अज्ञान की प्रक्रिया, प्रकार, मंत्र तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन में अज्ञान परक मतभेद दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।



* वरिष्ठ प्रवक्ता, पंजाब विश्वविद्यालय वि०वि०वी० आई०एस०एण्ड आई०एस० होशियारपुर।

काश्मीर शैवदर्शन में जाग्रतस्वप्रादि पाँच अवस्थाओं का स्वरूप

सन्ध्या *

काश्मीर शैवदर्शन एक शुद्ध आगमिक दर्शन है और अपनी आगमिकता को स्पष्टतया निभाता है। इस दर्शन को "प्रत्यभिज्ञानाय" भी कहा गया है। प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त यह है कि अज्ञान की निवृत्ति के अनन्तर गुरुओं के वचनों से जीव को ज्यों ही ज्ञान हो जाता है कि "मैं शिव हूँ" त्यों ही उसे तुरन्त आत्म-स्वरूप शिवत्व का साक्षात्कार हो जाता है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ ही यह है कि अपने आप को जानना, पहचानना। जब अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तो शिव का साक्षात्कार भी हो जाता है। इसे "ईश्वराद्वयवाद" भी कहा जाता है। शिव ही एकमात्र सत्ता है जिससे जगत् की उत्पत्ति होती है। इसे "स्वतन्त्रशक्तिवाद" भी कहा जाता है, क्योंकि इस दर्शन में शक्ति का ही प्राधान्य है। इस दर्शन को काश्मीर शैवदर्शन इसलिए कहा जाता है क्योंकि शैवदर्शन की अभिव्यक्ति काश्मीर से मानी जाती है। इसके प्रसिद्ध आचार्य और मूलभूत साहित्य का प्रादुर्भाव काश्मीर के पावन स्थल पर हुआ है। तन्त्रालोक में स्पष्ट कहा गया है कि जिस प्रकार उत्तम केसर की उत्पत्ति काश्मीर से ही होती है और तदनन्तर उसकी सुगन्धि प्रसारित होती, उसी प्रकार से शिव अद्वैत रस रूपी दर्शन की उत्पत्ति काश्मीर से हुई है और उसका सुगन्धि रूपी यश अन्यत्र फैला।¹

शैव-सिद्धान्त के अनुसार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या और तुर्यातीत पाँच अवस्थाएं मानी गई हैं।² उनमें से अन्तिम दो अवस्थाएं क्रमशः "शाक्तभूमिका" और "विशुद्ध-शिवभाव" की अवस्थाएं हैं। सिद्ध गुरुचरणों

का कथन है कि वास्तव में ये दोनों अवस्थाएं एक ही सर्वोत्कृष्ट निर्विकल्प अवस्था की द्योतक हैं। इनमें केवल सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थिरता और अस्थिरता के अतिरिक्त कोई भेद नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि असल में तुर्य पद ही वह पूर्ण अहंविमर्शात्मक शाक्तभूमिका है, जिसको प्राप्त करने के अनन्तर सारी इतिकर्तव्यतायें समाप्त हो जाती हैं। साधक जब इस पद पर शाश्वत स्थिरता में अवस्थित अर्थात् आरूढ़ हो जाता है, तो वही उसकी तुर्यातीत अर्थात् पूर्ण शिवभाव की अवस्था कही जाती है। यही कारण है कि हमारे स्पन्दगुरु इसी तुर्यपद को प्राप्त करने पर ही बल देते हैं क्योंकि यही पद शिवभाव को प्राप्त करने का पहला द्वार है। साधनामार्ग पर चलने वाले योगियों अथवा ज्ञानियों के दृष्टिकोण से शेष इन तीन अवस्थाओं का वही स्वरूप नहीं जो कि संसारभाव के सर्वसाधारण और दैनिक व्यवहार में अनुभव में आता है। उदाहरण के तौर पर साधारण लोगों की जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति योगियों के लिए ध्यान, धारणा और समाधि की अवस्थाएं होती हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य और तुर्यातीत - ये पाँचों अवस्थाएं एक ही प्रमाता के साथ सम्बन्ध रखती हैं अर्थात् एक ही प्रमाता कभी जाग्रत अवस्था में, कभी स्वप्नावस्था में कभी सुषुप्ति अवस्था में होता है और कभी योगाभ्यास का आश्रय लेकर तुर्या तथा तुर्यातीत अवस्थाओं का अनुभव करता है। इन अवस्थाओं का स्वरूप इस प्रकार है-

1. जाग्रत-अवस्था : जिस अवस्था में अधिष्ठेय-रूपता ही विद्यमान रहे और अधिष्ठात् रूपता सब प्रकार

* जम्मू विश्वविद्यालय

से असंविदित रहे, अर्थात् जिस समय घट-पटादि वस्तुवर्ग प्रमाता को वेद्य के रूप में ही प्रतीत हो जाय, वही अवस्था 'जाग्रत-अवस्था' होती है। किसी प्रमाता की ज्ञानेन्द्रियां जिन पदार्थों को ग्रहण करती हैं। वे उस प्रमाता के द्वारा ग्रहण न किए जाने पर भी पृथक् रूपों में वर्तमान रहती है और साथ ही उस प्रमाता के अतिरिक्त अन्य प्रमाता भी एक ही समय पर उनका ग्रहण कर सकते हैं। घट एक पदार्थ है। उसको कोई देखे या न देखे वह तो वर्तमान रहता है और देखे जाने के समय बहुत से प्रमाता उसको एक ही समय पर देख सकते हैं। फलतः तीन अन्तःकरणों और पांच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियों से निश्चय, अभिमान, संकल्प, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के रूप में उत्पन्न सर्वसाधारण ज्ञान को 'जाग्रत-अवस्था' कहते हैं। शिवसूत्रों एवं उसकी विमर्शिनी में भी ऐसा ही कहा गया है।^१

स्वप्न-अवस्था :- जिस अवस्था में घट-पटादि वस्तुवर्ग प्रमाण-दशा में ठहरकर अर्थात् इन्द्रियों और अन्तःकरण में ही स्थित होकर दिखाई देता है, उसी अवस्था को "स्वप्नावस्था" कहते हैं। इस अवस्था में प्रमाता के इन्द्रियवर्ग का बाह्यप्रसार रुक जाता है और सारी वृत्तियां केवल मानसिक संकल्पविकल्पात्मकता में ही केन्द्रीभूत हो जाती है। फलतः इस अवस्था में प्रमाता जाग्रत अवस्था की तरह ही नगर, गिरि, उपवन आदि पदार्थों का अनुभव मानसिक विकल्पों के द्वारा करने लगता है। शिवसूत्र एवं उसकी विमर्शिनी में भी ऐसा कहा गया है।^२ फलतः केवल मानसिक संकल्प विकल्पात्मकता के द्वारा विषयों के अनुभव करने की अवस्था को "स्वप्नावस्था" कहते हैं।

3. सुषुप्ति-अवस्था - घट-पटादि बाह्यपदार्थ जिस अवस्था में प्रमाता के स्वरूप में छिपा रहता है, उस

अवस्था को "सुषुप्ति अवस्था" कहते हैं। इस अवस्था में प्रमाता के अन्तःकरण में तमोगुण की इतनी मात्रा बढ़ जाती है कि वह सारे तन-मन की सुध खोकर गहरे मोह में पड़ जाता है।^३ इन्द्रियों की शक्ति न ज्ञानरूप में और न ज्ञेयरूप में ही कुछ काम कर सकती है। सुषुप्ति काल में विषयों की अनुभूति रहती तो अवश्य है, परन्तु तमोगुण की मात्रा अधिक होने पर उसको स्मरण स्पष्ट रूप में नहीं होता है। हां केवल उठने के अनन्तर उसको इस काल में अनुभूत विषयों के द्वारा लगे हुए संस्कारों से "मैं सुख में सोया हुआ था", मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है। इस प्रकार का धुंधला जैसा स्मरण होता है। फलतः गहरी नींद में पड़कर केवल चित्त के द्वारा ही विषयों को अनुभव करने की अवस्था को "सुषुप्ति-अवस्था" कहते हैं।

4. तुर्या अवस्था :-

तुर्यावस्था का निर्णय करने से पहले प्रमा तथा प्रमाता का स्वरूप भेद दिखलाना युक्ति-संगत प्रतीत होता है। जिस अवस्था में प्रमाता वेद्य की उपाधि से उपरक्त बना रहता है, वह अवस्था प्रमाता की अवस्था है। इसके विपरीत जिस अवस्था में प्रमाता शास्त्रज्ञ की भान्ति वेद्य की उपाधि से अनुपरक्त रहता है, उस अवस्था को प्रमिति कहते हैं। अतः प्रमाता की दशा से भी ऊपर ठहरी हुई जो प्रमिति अवस्था है और जिस अवस्था में समस्त वस्तुवर्ग अपने संस्कारों को उसी प्रमिति अवस्था में लीन करता है, उस दशा को "तुर्यावस्था" कहते हैं। इस अवस्था को "शक्ति समावेश" भी कहते हैं।

5. तुर्यातीत :

जो अवस्था पूर्ण तथा आनवच्छिन्न आनन्द से भरी रहती है तथा जहां योग अभ्यास करने का कोई प्रयोजन नहीं रहता, वही अवस्था "तुर्यातीत अवस्था"

कही जाती है और उसी को परम-धाम भी कहते हैं। इस अवस्था में सब और से केवल ज्ञान ही अनुभव में आता है। अतः इस अवस्था का नाम केवल ज्ञानियों की दृष्टि से ही रखा गया है। इस अवस्था का नाम "महाप्रचय" रखा है। ज्ञानी इस अवस्था को "सततोद्यत" भी कहते हैं। इन्हीं मौलिक अवस्थाओं के पारस्परिक संयोजन और नियोजन की विचित्रता से अनन्त प्रकार की मानसिक अवस्थाएं जन्म लेती हैं। जैसे :-

जाग्रत	जाग्रत-जाग्रत्	जाग्रत-स्वप्न	जाग्रत-सुषुप्ति	जाग्रत-तुर्या
स्वप्न	स्वप्न-जाग्रत्	स्वप्न-स्वप्न	स्वप्न-सुषुप्ति	स्वप्न-तुर्या
सुषुप्ति	सुषुप्ति-जाग्रत्	सुषुप्ति-स्वप्न	सुषुप्ति-सुषुप्ति	सुषुप्ति-तुर्या
तुर्या	तुर्या-जाग्रत्	तुर्या-स्वप्न	तुर्या-सुषुप्ति	

तुर्यातीत

शास्त्रकारों का कथन है कि इन पांचों अवस्थाओं में वेदक अर्थात् अनुभव करने वाला प्रमाता एक ही होता है।^१ यदि इनमें से प्रत्येक का वेदक पृथक्-२ होता तो

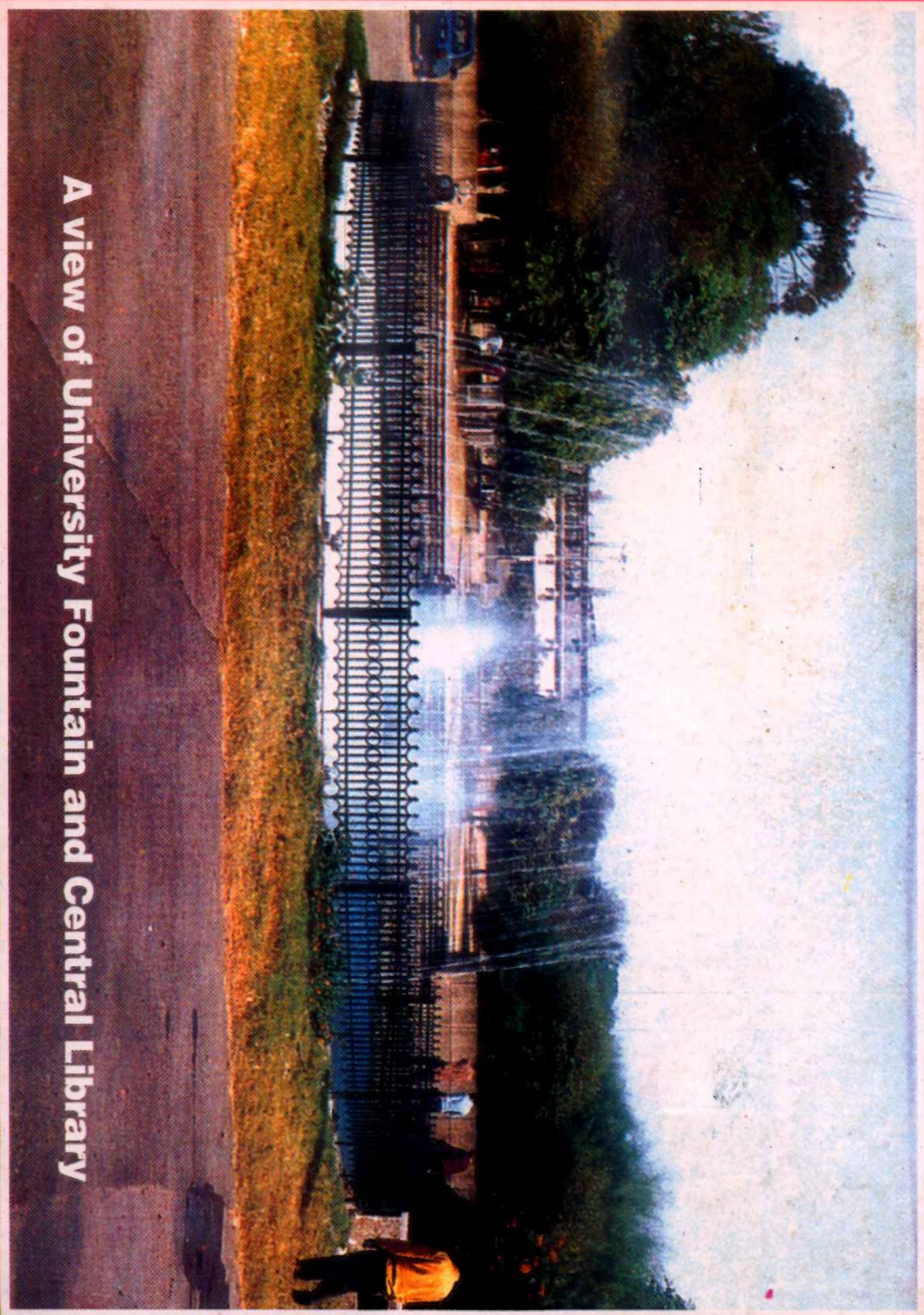
एक अवस्था का अनुभव करने वाला प्रमाता दूसरी अवस्था से बिल्कुल अनभिज्ञ रहता।^१ फल यह होता कि एक ही अवस्था या अनुभव की अभाव में ये अवस्थाएँ ही नहीं बन सकती और न इनकी कोई निश्चित संख्या ही कही जा सकती। अवस्था शब्द से एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न देश, काल, आकार, आदि के साथ सम्बन्धित दशा अथवा स्थिति का अभिप्राय लिया जाता है। स्पष्ट है कि अवस्थाओं की संख्या चाहे जितनी भी हो, उन सभी का सम्बन्ध एक ही प्रमाता के साथ होना आवश्यक है।^१ अतः ये पांचो अवस्थाएँ एक ही चेतन प्रमाता की स्वयं अङ्गी-कृत अवस्थाएं हैं और स्थूलरूप में इनमें पारस्परिक स्वरूपभेद होते हुए भी इनका अनुभव करने वाली चेतना सत्ता के अनुभव करने का स्वभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।



1. श्री सोमानन्द पाद प्रभृति गुरुवरादिष्टनीतिमार्गो लब्ध्वा यत्रैव सम्यक्पटिम-निघटनामशिवरूढैतवादिः। कश्मीरेभ्यः प्रसृत्य प्रकटपरिमलोरंजयम् सर्वदेशान् देशे-अन्यास्मिन् दृष्टो घुसृणविसखत्सर्ववन्धत्वमाप।-तं० आ० वि० पुष्पिका-7
2. जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च तुर्यं च तदतीतकम्।
इति पञ्च पदान्याहुः..... ॥ तं० आ०, 10, 228
3. "ज्ञानं जाग्रत" - शि०सू० 1/8
4. "स्वप्नो विकल्पाः"।- शि०सू०, 1/9
5. "अविवेको माया सौषुप्तम्"। शि०सू० 1/10
6. इति पञ्चपदान्याहुरेकस्मिन् वेदके सति। तं० आ०, 10/229
7. एकस्मिन्वेदके सतीति। अनेकस्मिन् वेदके अनयस्य जाग्रदन्यस्य स्वप्न इत्यवस्थानामवस्थात्वं पञ्चात्मकत्वं च न स्यात्।
8. एकमेव ह्यवस्थातारमधिकृत्यासां तथा भावोभवेदितिभावः। तं० आ० 10, 220



Shree Mata Vaishno Devi Ji



A view of University Fountain and Central Library